

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178712

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/J25N Accession No. G.H. 763

Author जैन, चन्द्रावली क.

Title नींव की ईंट | 1942

This book should be returned on or before the date last marked below.

नींव की ईंट

मानवता की कोमल अनुभूतियों
से पूर्ण, कलात्मक १४ कहानियाँ

लेखिका—

श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैन
प्रधान सम्पादिका—'दीदी'



प्रकाशक—
जीवन-कला-मन्दिर (साहित्य-विभाग)
सहारनपुर यू० पी०

संस्करण
अगस्त १९४२ : १०००
मूल्य डेढ़ रुपया

मुद्रक—आशाराम क्षत्रिय
रॉयल प्रिंटिङ्ग प्रेस
सहारनपुर

कहाँ क्या है ?

बस और क्या कहूँ ?	...	५
लो, यह लो !	...	९
अक्षर-चित्र (श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर')		११
भींकती भिखारिन	...	एक
मेरी चुटिया उस के हाथ में थी	...	तेईस
अञ्जनहारी	...	उनत्तीस
वह भीख माँगती आई	...	उननचास
जब घर में चोर था	...	तिरेसठ
है न यही बात ?	...	इकहत्तर
वे तीन दिन	...	पिचासी
गुलाबी चुनरिया	...	सत्तानवे
भैया की डायरी	...	एकसौ पाँच
नींव की ईंट	...	एकसौ इक्कीस
गरीब का ईमान	...	एकसौ इकत्तीस
धबल छत्र की छाया में	...	एकसौ इकतालीस
तीन साल पहले की बात	...	एकसौ इक्यावन
जंगू की बात	...	एकसौ उनसठ



चन्द्रवती ऋषभसैन जैन

बस और क्या कहूँ ?

शैशव-काल से ही मैं नहीं जानती कैसे मुझ में एक संस्कार है, जीवन को आँख खोल कर देखने का । देखते-देखते जब भीतर भारी-सा एक संग्रह हो चला तो घर-गृहस्थी के सामान की तरह, उसे ठिकाने लगाने, व्यवस्थित करने की ज़रूरत पड़ी । मेरी कलम का यह कार्य उसी व्यवस्था का रूप है और संक्षेप में मेरे साहित्य का मनोविज्ञान और इतिहास यही है ।

इन कहानियों में कल्पना के करिश्मों का अभाव है । ये सब मेरे या मेरे साथियों के जीवन की घटनाएँ हैं । इनके पात्र मेरी 'सृष्टि' नहीं हैं, मेरे 'कामरेड' हैं । वे मेरे साथ हैंसे, खेले और रोये, और मैं उन में और वे मुझ में बराबर डूबे रहे । लिखते समय मुझे कभी नहीं लगा

कि मैं लिख रही हूँ। सन्दलसिंह से मैंने बातें कीं, चञ्चल से चुहल और अञ्जनहारी, ललिता एवं भीकती के साथ मैं रोई।

मेरे पास साहित्य का 'मीटर' नहीं है। मैं इन का साहित्यिक मूल्य जानती भी नहीं। किसी 'मूल्यवान भेंट' के रूप में, अभिमान के साथ, इन्हें लिये, इठलाते, मैंने साहित्य-भारती के मन्दिर में प्रवेश भी नहीं किया।

यह प्रेस का युग है। इस में सब कुछ छप जाता है। जानती हूँ, छपाई और मूल्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्वान आलोचक और उन से भी आगे समय, मूल्य का सही निर्धारण करते हैं।

छिपाऊँगी नहीं, मुझ में प्रसंशा की चाह है। इन की कोई प्रसंशा करे तो मैं सुखी होऊँ, पर आलोचना के आलोक में इन की अपात्रता ही सिद्ध हो तो मैं दुख न मानूँ, क्योंकि जानती हूँ, समय के बहते प्रवाह पर छाप लगाने की क्षमता मुझ में नहीं है।

फिर भी यह प्रकाशन एक विडम्बना ही समझी जाए तो इस का भार हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, साहित्य-बन्धु श्री ठाकुर श्रीनाथसिंह जी के हिस्से आएगा, जिन्होंने दर्जनों लम्बे-लम्बे प्रशंसा भरे पत्र लिख कर, बराबर मेरी हिम्मत बढ़ाई। हिन्दी के दूसरे अनेक प्रतिष्ठित पत्र सम्पादकों और विशेषतः वैज्ञानिक कहानियों के लेखक

और श्रेष्ठ समालोचक श्री प्रो० ब्रजमोहन गुप्त एम० ए०
का स्नेह-सहारा भी इस में भागीदार है ।

अपने भाई प्रभाकर जी के बारे में यहाँ कुछ कहने के
लिये शब्दों की एक वेगवती धारा भीतर उमड़ी है, पर वे
मानवता के मूक साधक हैं और नहीं चाहते कि मैं कुछ
कहूँ । वे भारतमाता के उस कोटि के पुत्रों में हैं, जिन्हें
पाकर किसी भी बहिन को फिर कुछ और पाने की
इच्छा नहीं रहती ।

बस और क्या कहूँ ?

शान्ति भवन, सहारनपुर	}	चन्द्रवती ऋषभसैन जैन
१ अगस्त १९४२		

लो, यह लो !

जीवन साथी !

यह सब आप की ही तो विभूति है कि मैं आज यहाँ आप को सम्बोधन कर रही हूँ और यह जो आज भारती के मन्दिर में मुझे भेंट लेकर आने का अवसर मिला है, इस में भी मेरी प्रतिभा और परिश्रम की अपेक्षा आप की अथक प्रोत्साहन-प्रेरणा की ही भलक है।

मैं बड़े घर में जन्मी-पली, बड़े घर में आई और बड़े घरों के वातावरण में मिली-जुली। जानती हूँ, इस क्षेत्र में नारी का जीवन स्पेशल क्लास के कैदी से आम तौर पर कहीं अच्छा नहीं है। नारी की स्वतन्त्र सत्ता, मानवी आकांक्षाएँ और संक्षेप में सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अपहरण कर यहाँ उसे सोने का शृङ्गार मिलता है, पर मैंने यहाँ सदा ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता अनुभव की है और पाया है कि आप की सारी आकांक्षाएँ, प्रेरणाएँ मेरे व्यक्तित्व के विकास की ओर ही अभिमुख रही हैं।

हम लड़े भी हैं, हम में मतभेद भी रहे हैं, पर जीवन के सिद्धान्तों के प्रति आप की ईमानदारी सदा अभङ्ग रही है और मेरी दृष्टि में यह साधारण बात नहीं है—हमारे आज के सामाजिक जीवन में, जहाँ नारी कर्तव्य में कुबेर होकर भी अधिकार में 'इंसालवेण्ट' है, निश्चय ही असाधारण है ।

मुझे गर्व है कि आप सही मायने में एक पुरुष हैं—सङ्घर्ष और शान्ति दोनों में आप की दृढ़ता समान रूप से अलुण्ण रही है, पर आप के पौरुष का अभिमान साम्राज्यवादी अँग्रेजों की तरह, साथी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का संहार कर कभी शासक होने में उत्सुक नहीं हुआ । उसे सदा ही साम्यवादी सोवियट की तरह स्वतन्त्र साथी के सहयोग की प्यास रही ।

मुझ में आज जो कुछ रचनात्मक प्रवृत्ति है, यह उसी का फल है, पर नारी स्वतन्त्र हो कर भी उत्सर्गमयी है तो उस प्रवृत्ति का यह जो कुछ फल है, इसे मैं कहाँ रक्खूँ ?

लो, यह लो और अपने ही हाथों से, इसे भारत-भारती के मानस-मन्दिर में भेंट कर दो !

आप इस से प्रसन्न हों और माँ भारती आशीष दे, मैं और यहाँ क्या चाहूँ ?

आप की ही तो—
चन्द्रवती

अक्षर-चित्र

“चाचा जी ! कहानी सुनाओ ।”

पगली सुधा ने ‘ऑर्डर’ की टोन में उस दिन कहा और फौरन ही प्रबोध मचल पड़ा—“हाँ, एक मजेदार कहानी चाचा जी !”

शारदा और अशोक तो ऐसे मौके तलाश किया ही करते हैं। लाड़ में डूब कर, गुनगुनी आवाज़ में उनका भी हुक्म सादिर होगया—“सुनाओ चाँचाँ जी !” पर मैं कहानी-वहानी की मूड में न था और ये चारों भूत बने लिपट रहे थे। हिन्दुस्तान के चतुर स्यानों की तरह अपना भूत मैंने भाभी के सिर उतार दिया। अब हम पाँचों भाभी के सिर थे—“सुनादो एक कहानी ।”

धीरे-धीरे बूढ़ी नानी की-सी टोन में रस ले-लेकर उन्होंने एक कहानी सुनाई। शुरू से लगभग अन्त तक हम जो समझते रहे, अन्त में वह कुछ और ही हो गया। कहानी के रहस्य-गोपन की यह क्षमता मुझे असाधारण लगी।

“भाभी ! यह कहानी आप ज्यों की त्यों लिख दें तो एक बढ़िया चीज बन जाए !” दूसरे दिन उन्होंने एक कहानी लिखी—“मेरी चुटिया उसके हाथ में थी !” पढ़ कर हम सब हँसे, सब ने उसे पसन्द किया और इस प्रकार हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैन का प्रवेश संस्कार हुआ।

यह घटना हुए वर्षों बीत गये और आज एक श्रेष्ठ कहानी-लेखिका के रूप में वे हमारे बीच में हैं। उनकी प्रगति और सफलता का रहस्य इस बात में छिपा है कि वे जो काम करती हैं, पूरी शक्ति के साथ और रस लेकर और यह कि उस समय उन्हें यह भूल जाता है कि दुनिया में और भी कोई काम है।

स्कूल में उन्होंने ड्राइङ्ग ली। कुछ साल बीते उनकी रुचि इधर फिर से झुकी। लखनऊ से एक आर्टिस्ट बुलाये गये और वे जुट गईं। आज उनकी विशाल कोठी स्वयं उनके बनाये पेण्टिङ्गस् से सजी है। उन दिनों ऐसा लगता था कि ये जन्म-जन्मान्तर से पेण्टर हैं और पेण्टिङ्ग इन का शौक नहीं व्यवसाय है। जिस स्त्री के सिर पर एक नये युग

के खासे बड़े परिवार की जिम्मेदारी हो, वह जब आठ घण्टे रोज़ ब्रुश, प्याली और रङ्गों की दुनिया में रमी रहे तो और क्या कहा जाए ?

उन की यह धुन कलात्मक या मनोरञ्जन के कार्यों तक ही सीमित नहीं है । यह उन के स्वभाव का अङ्ग है और प्रति दिन की गृह-व्यवस्था में हम इसे घुला-मिला पाते हैं । जब वे अपने अतिथि के लिये भोजन की व्यवस्था में लगी हों तो आप उन से कहानी के विषय में कुछ भी कहिये, उन्हें बधिर पायेंगे । एक धनी परिवार की अध्यक्षता हो कर भी एक दिन में तीन सेर पिस्ता और अढ़ाई सेर बादाम कतरने का उन का 'रिकार्ड' है और हमारे हलवाई बता सकते हैं कि इस रिकार्ड को 'बीट डाउन' करना आसान नहीं है ।

लेखन में भी इन की वही स्थिति है । अब उन का अधिकांश समय अध्ययन और लेखन में जाता है । मोपासाँ, चेख्रव और प्रेमचन्द ये उन के प्रिय कलाकार हैं और कहानी उन का विषय । अब ब्रुश, प्याली और रङ्ग का स्थान सुन्दर फ़ाउण्टेन पैन और स्वान इंक ने ले लिया है और गत्तों के स्थान में सुन्दर पुस्तकें आ गई हैं ।

एक दिन अपने ऑफिस में वे बैठी थीं । मैं आ गया तो बोलीं—“भैया, कहानी लिखने की मूड आ रही है, पर कोई सॉट नहीं सूझता । बताओ न !”

“लॉट ! जीवन में लॉट-ही-लॉट बिखरे पड़े हैं ।”

इतने में एक भिखारिन आगई । मैंने कहा—“लो, एक लॉट यह है । अगर आप भिखारियों के जीवन की ‘स्टडी’ करें तो २५ मास्टर-पीस कहानियाँ लिख सकती हैं । बस उन के मस्तिष्क को मार्ग मिल गया और वह सप्ताह पूरा-का-पूरा भिखारी सप्ताह रहा । हरेक नौकर को आदेश मिला कि जो भिखारी मिले, बुला लाओ । कितने ही भिखारी-भिखारिन आये । भोजन कराया, बातें कीं । वे स्वयं भिखारियों के तमाम अड्डे देख आईं । रात-दिन एक ही चिन्ता, एक ही विचार और एक ही धुन—भिखारी, भिखारिन और भिखारी-जीवन !

इस धुन में एक सृष्टि हुई—‘भीकती भिखारिन’ ! यह कहानी इतनी सुन्दर, भावमय और कलात्मक है और साथ ही जीवन के सरल स्नेहमय स्पर्श से परिपूर्ण कि साधारण पाठक से लेकर कला-पारखी समालोचक तक उस की वेगमयी रस-धारा में परिम्लवित हुए बिना नहीं रह सकता ।

लेखिका सम्पूर्ण वातावरण में अपने पात्रों के साथ रही है—भिलमिल भाँकी के रूप में नहीं, साक्षात् कहानी-लेखिका के रूप में, दृढ़ पहरेदार-सी । कला की कोमल छुई-मुई, कलाकार के इस क्रूर ‘पिकेटिङ्ग’ का स्वागत नहीं करती । दिव्य-दर्शी रवीन्द्रनाथ ने अपनी

‘असम्भव बात’ जैसी कहानियों में इस के अपवाद की सृष्टि की है, जहाँ कलाकार दूर से ही खड़ा दिखाई देता है, पर वह कला की छाया में नहीं जाता, कला स्वयं उसकी छाया ग्रहण करती है। यह प्रसन्नता की बात है कि उस दिव्यात्मा का आशीर्वाद ग्रहण कर लेखिका अपनी स्वतन्त्र सत्ता का लोप और कला की आत्मा का संहार किये बिना गीता में संजय-सी अपनी ‘भीकती भिखारिन’ में खड़ी है। यह उस कोटि की कृतियों में है, जो कलाकार को जनता के हृदयों तक पहुँचने में वाहन का उत्तरदायित्व बहन करती है।

यहीं उन की ‘अञ्जनहारी’ की चर्चा करना उचित होगा। उन के शयन-कक्ष में एक अञ्जनहारी ने मिट्टी के छै घर बनाये और अण्डे रखे। सातवाँ घर बना कर, उस में रखने को जब वह अण्डा ला रही थी तो बिजली के पंखे से टकरा कर कट गई। बस इतनी-सी बात है इस कहानी में और कोई भी कह सकता है कि यह कतई साधारण बात है, पर लेखिका के हृदय की कोमलता, सहृदयता और मातृत्व का रस पान कर यही बात इतनी असाधारण होगई है कि वह हमारे साहित्य को यह स्वर्ण भेंट दे सकी। मैं इस कृति को उन की सर्वोत्तम कृति मानता हूँ और मेरा विश्वास है कि अंग्रेजी, जर्मन या फ्रेंच भाषा में हिन्दी कहानी का सही प्रतिनिधित्व करने के लिये

२५ कहानियाँ चुनी जाएँ तो यह आसानी के साथ उन में स्थान पा सकेगी ।

अपनी भूमिका में उन्होंने कहा है—

“इन कहानियों में कल्पना के करिश्मों का अभाव है । ये सब मेरे या मेरे साथियों के जीवन की घटनाएँ हैं । इन के पात्र मेरी ‘सृष्टि’ नहीं है, मेरे ‘कामरेड’ हैं । वे मेरे साथ हँसे, खेले और रोये । मैं उन में और वे मुझ में बराबर डूबे रहे । लिखते समय मुझे कभी नहीं लगा कि मैं लिख रही हूँ । सन्दलसिंह से मैंने बातें कीं, चञ्चल से चुहल और अञ्जनहारी, ललिता और भीकती के साथ मैं रोई !”

अपने पात्रों के साथ उन का यह तादात्म्य ही उन की सफलता की कुञ्जी है । यह तादात्म्य उन्हें अपने हृदय की सहानुभूति का उत्सर्ग अपने पात्रों के प्रति करने में सहायक होता है । उन के व्यक्तिगत जीवन में सहानुभूति, सहृदयता और स्नेह का यह अखण्ड भण्डार उन्हें प्रकृति से मिला है । विगत बीस वर्षों में, वे बराबर फूलों में रही हैं, पर वे अपने हाथ से कोई फूल तोड़ नहीं सकतीं । उन में अनेक बार इस अभिलाषा का उदय हुआ है, वे वृक्ष के पास तक गई हैं, मन ने प्रेरणा की है, पर उन के संस्कार ने अँगुलियों को सहारा नहीं दिया । उन के शरीर पर काटते मच्छर को भी कोई उन की जानकारी में नहीं मार सकता

और खूत की भयङ्कर बीमारियों में, अपने जीवन और बच्चों के लिये खतरा उठा कर भी उन्होंने रात-दिन अपने नौकरों की सेवा की है। 'अञ्जनहारी' की 'मैं' और कोई नहीं, स्वयं उस की लेखिका है और व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण मैं कह सकता हूँ कि वह उन के जीवन में बीती घटना की अक्षरशः रिपोर्ट है। अपनी कहानियों में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर लेखिका स्वयं ही लेखिका और स्वयं ही जीव-ब्रह्म के ऐक्य की तरह पात्र भी है।

भीकती, अञ्जनहारी, ललिता, सन्दलसिंह की पत्नी, आशाराम और अपने दूसरे पात्रों के सुख-दुख की छाया उन के मन पर पड़ी और उसे उन्होंने अपना ही सुख-दुख समझा, यह उन की मानवता का चित्र है और उस छाया को अपनी कलम के सहारे वे कागज पर ज्यों-का-त्यों उतार पाई, यहाँ वे कलाकार हैं। उस छाया को कागज पर ज्यों-की-त्यों उतारने में उन की क्षमता असाधारण है और इस असाधारणता का चरम उत्कर्ष इस बात में है कि अनुभूति की इस धारा के मन से कागज तक आने में न तो कल्पना की रङ्गीनियाँ ही उस में इस मात्रा में मिल जाती हैं कि वह एक स्वप्न रह जाता और न उसमें इतनी छूट रह जाती है कि वह देवता की खण्डित मूर्ति-सी आँखों में खटके।

इस प्रकार चन्द्रवती हमारे साहित्य में जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं—न उन्हें स्वर्ग का छोर पृथ्वी के

आँचल से बाँधने की धुन है, न समाज-सुधार का भण्डा ही उन के हाथ में है। वे एक मानवात्मा हैं और मानव की दृष्टि से संसार को देखती हैं। जो देखती हैं, वह उन्हें प्रभावित करता है और उसे वे सँवार कर साहित्य में रख देती हैं।

अपनी भूमिका में बहुत सुन्दर ढङ्ग से उन्होंने अपने साहित्य की आधार भूमिका निर्देश कर दिया है—

“शैशव-काल से ही मैं नहीं जानती कैसे मुझ में एक संस्कार है, जीवन को आँख खोल कर देखने का। देखते-देखते जब भीतर भारी-सा एक संग्रह हो चला तो घर-गृहस्थी के सामान की तरह, उसे ठिकाने लगाने, व्यवस्थित करने की जरूरत पड़ी। मेरी क्लम का यह कार्य उसी व्यवस्था का रूप है और संचेप में मेरे साहित्य का मनोविज्ञान और इतिहास यही है।”

उन की कहानियों का वातावरण प्रायः ऊँचे धरातल का है, यह उनकी सांसारिक परिस्थिति का परिणाम है, पर ऊँचाई के उन रेगिस्तानी टीलों पर उन्होंने अपने परिश्रम से जो वृक्ष लगाये, वे शोषण के एरण्ड नहीं, वातावरण में कोमल सुरभिका संचार करने वाले कदम्ब हैं, जिन की छाया में थकी, पीड़ित और कराहती मानवता को शीतल विश्राम की फुहारें मिली हैं।

उन की सांसारिक परिस्थिति को हम समझ लें।

अपने समय के प्रख्यात पुरुष-रत्न स्व० सर डाक्टर मोतीसागर की वे पुत्री हैं, जो आरम्भ में पंजाब के 'सीनियर मोस्ट' एडवोकेट थे, बाद में तीन बार हाईकोर्ट के जज रहे और अन्त में देहली यूनिवर्सिटी के वायस चांसलर हुए। अपने पिता की प्रतिष्ठा के अनुरूप, उत्तर भारत के प्रसिद्ध वैद्व व्यवसायी भगवानदास वंश के रत्न श्री ऋषभसैन जैन के साथ उन का विवाह हुआ।

इस प्रकार लक्ष्मी के छम-छम वातावरण में वे जन्मीं, पलीं, बड़ीं और रहीं, पर इस छम-छम वातावरण में सरस्वती के विरोध की भावना न थी—दूसरे शब्दों में उन्होंने चाँदी और स्वर्ण-जटित सिंहासन पर माँ भारती की प्रतिमा का पूजन देखा। जीवन के आरम्भ में जब उन की होश ने पहली अँगड़ाई ली तो अपनी टुकुर-टुकुर आँखों से उन्होंने जहाँ मुक्कलों की जेब से निकल कर हजारों रुपये अपने पिता की मेज पर छनकते देखे, वहाँ सुनहरी जिल्दों से जड़ी पुस्तकों से भरी अलमारियाँ भी देखीं और यह तो स्पष्ट है कि उन के बाल मन पर दोनों की ही छाप पड़ी।

उनके जीवन-सङ्गी श्री ऋषभसैन, जिनके वातावरण में बढ़ कर उन की मनोवृत्तियों का विकास हुआ, स्वयं एक विद्वान और व्यवस्थापक हैं। कॉलिज की शिक्षा के साथ उन्होंने विश्व-साहित्य का जो अध्ययन और संग्रह

किया, वह गौरव-पूर्ण है। उस अध्ययन का प्रभाव आज भी उन के जीवन में व्याप्त है और वे स्वयं एक अच्छे लेखक हैं। हिन्दी के कई विद्वानों ने उन के लेखों की अच्छी प्रशंसा की है।

उन का गृहस्थ-जीवन अत्यन्त मधुर, व्यवस्थित और ऊँची श्रेणी का है और उस में वे किस मात्रा में ओत-प्रोत हैं, यह 'अञ्जनहारी', 'मेरी चुटिया उस के हाथ में थी', 'गरीब का ईमान' और 'जब घर में चोर था' में उन का जो उल्लेख हुआ है, उस से स्पष्ट है और अपने समर्पण में उन के चरित्र के लिये जो प्रमाण-पत्र लेखिका ने उन्हें दिया है, वह विश्व-विद्यालय के प्रमाण-पत्र से कहीं अधिक प्रमाणिक है—

“हम लड़े भी हैं, हम में मतभेद भी रहे हैं, पर जीवन के सिद्धान्तों के प्रति आप की ईमानदारी सदा अभङ्ग रही है और मेरी दृष्टि में यह साधारण बात नहीं है—हमारे आज के सामाजिक जीवन में, जहाँ नारी कर्तव्य में कुबेर होकर भी अधिकार में 'इंसालवेण्ट' है, निश्चय ही असाधारण है।

मुझे गर्व है कि आप सही मायने में एक पुरुष हैं—सङ्घर्ष और शान्ति दोनों में आप की दृढ़ता समान रूप से अलुण्ण रही है, पर आप के पौरुष का अभिमान साम्राज्यवादी अँग्रेजों की तरह, साथी के

स्वतन्त्र व्यक्तित्व का संहार कर कभी शासक होने में उत्सुक नहीं हुआ। उसे सदा ही साम्यवादी सोवियत की तरह स्वतन्त्र साथी के सहयोग की प्यास रही।”

मातु श्री श्रीमती सेवतीदेवी—लेखिका की सासु— का यहाँ उल्लेख न करना, इस विवरण में अपूर्णता की सृष्टि करेगा, जिन्होंने बीते युग का प्रतिनिधि हो कर भी अपनी ‘बहू’ की नवयुग-प्रवृत्ति को सदैव प्रोत्साहन दिया और जिन की छाया में आज भी वे मातृ-अङ्क की निर्द्वन्द्व उत्फुल्लता का उपभोग पा उन का मन विशालता की लहरें लिया करता है।

लेखिका के व्यक्तित्व-विकास की कुञ्जी यही है और इसी से हम जान सकते हैं कि वैभव के उस वातावरण में मानवता के कणों का यह प्रकाश कैसे फैला ?

लेखिका के शब्दों में ‘इन कहानियों में कल्पना के करिश्मों का अभाव है !’ पर विविध मनोवृत्तियों का चित्रण सुन्दर और सही हुआ है और उस से चन्द्रवती के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की गहराई हम माप सकते हैं। उन के सभी पात्र जीते-जागते हैं, साहित्यिक सजीवता की दृष्टि से ही नहीं, सांसारिक जीवन की दृष्टि से भी। उन की मनोवृत्तियों का ठीक चित्रण करने में, व्यक्तिगत सम्पर्क और अनुभूति के कारण लेखिका को पर्याप्त सुविधा प्राप्त हुई है और उन के हृदय की समवेदना शीलता ने उन्हें

अपने पात्रों में, रूप में शृङ्गार-सी, इस तरह मिला दिया है कि उस का वातावरण सर्वत्र कृत्रिमता के कल्मष से अछूता रह, स्वाभाविकता की सरिता में अवगाहन कर दीप्तिमान हो उठा है, इस हद तक कि स्थान-स्थान पर सङ्केत हो उठता है, हम कहानी पढ़ रहे हैं या किसी घटना का विवरण ।

एक बात और, वे स्वयं स्त्री हैं, स्त्री के सुख-दुख, अभिलाष का उन्हें परिचय होना ही चाहिए, इस लिये उन की कहानियों में नारी के हृदय का प्रतिनिधित्व बहुत उच्च कोटि का हुआ है । भीकती, परी, शबनम, चञ्चल, ललिता, सन्दलसिंह की पत्नी और मङ्गला, उन के कलम-शिल्प के सुन्दरतम नमूने हैं, जहाँ उन्होंने नारी हृदय को साकारता दी है, पर पुरुष के सुख-दुख, अभिलाष का फोटो उतारने में भी उन की सूक्ष्मस्पर्शी कलम नहीं चूकी । एक पुरुष के नाते मैं कह सकता हूँ कि पुरुष के साथ उन्होंने कहीं अन्याय नहीं किया । सूरदास, लाला जी, रहमत, सन्दलसिंह, भैया, बलदेवदास, धीरजसिंह, भोलाराम और जंगू भी उन के उतने ही सफल चित्र हैं ।

चन्द्रवती बातचीत में सरल हो कर भी बहुत साफ हैं । गोलमाल या उलझा उत्तर उन के मन की बात नहीं । अपनी कहानियों में भी उन के इस स्वभाव का प्रस्फुटन हुआ है । और स्थान-स्थान पर उन्होंने जो सम्वाद लिखे

हैं, वे जोरदार, स्पष्ट और मर्मस्पर्शी हैं और मेरा विश्वास है कि वे किसी कलापूर्ण फ़िल्म के लिये बहुत सुन्दर 'डायलॉग' लिख सकती हैं। मैं उन के सम्वादों को उन की कहानियों की एक विशेषता मानता हूँ और अत्यन्त नम्रता के साथ निवेदन करना चाहूँगा कि इस विषय में हिन्दी की कोई कहानी-लेखिका, अभी तक उन से 'मैच' नहीं करती।

वे लाहौर में पलीं और देहली में जन्मीं। इस तरह उन की भाषा पर इस वातावरण का प्रभाव पड़ा और बाद में उन्होंने जैन-साहित्य का अध्ययन अनुवादों के रूप में किया और फल-स्वरूप उन की भाषा का शरीर उर्दू की सरलता से निर्मित हुआ और उस में संस्कृत की सरस आत्मा प्रतिष्ठित हुई। बाद में उन्होंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी के विवाद में दिलचस्पी ली और बाद की कहानियों में हिन्दी-पक्षपाती होने के कारण, उन के विश्लेषणों में उच्च कोटि की हिन्दी का भी दर्शन हमें मिला। सब मिला कर उन की भाषा सरल, सरस और सर्वत्र प्रवाह-पूर्ण है। उस में ओज भी है, चोज़ भी है और उस ने उन की कहानियों को निखार दिया है।

अपनी भाषा में उन्होंने पुराने मुहावरों का नये रूप में, नई शक्ति के साथ प्रयोग किया है और नये मुहावरों का निर्माण भी किया है। 'वे तीन दिन' में एक स्थान पर आया है—“चञ्चल की अभिरुचि का पता

लगाना, खुदा के सिर पर मौड़ बाँधना था !” यह उन की अपनी विशेषता है । नई उपमाओं का निर्माण और प्रयोग दोनों दृष्टियों से उन का स्थान सम्मान पूर्ण है । ये उपमाएँ उन्होंने हमारे नये युग से ली हैं और उनका फिटिङ्ग इतना सही है कि कोई भी ‘वर्कशाप’ उस पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करेगा । ‘भीकती’ और ‘सूरदास’ के मिलन को उन्होंने दो विभिन्न दिशा से आने वाली गाड़ियों की तरह कहा है और ‘अञ्जनहारी’ में एक स्थल पर उन्होंने ‘टारपीडो’ के वातावरण का लाभ लिया है, जो अत्यन्त सुन्दर है ।

उन की शैली की एक विशेषता, जिस ने मुझे प्रभावित किया, यह है कि उस में कहीं कृत्रिमता नहीं है, निर्भर के निर्मल प्रवाह की भाँति, वे जो कुछ मन में है, उसे कह देती हैं, कहती चली जाती हैं । अपनी भावना के लिये, उन्हें भाषा, उपमा, जोर, सुन्दरता या दूसरा कुछ भी ‘गढ़ना’ नहीं पड़ता, तन्मयता की ‘मूड’ में उस का उद्गम होता रहता है और वे सिर्फ सँभाल कर उसे कागज पर ले लेती हैं । यही कारण है कि उन की कहानियों में कहीं उलभाव नहीं है और पढ़ते समय हम उन की कहानियों में साक्षात् घटी घटनाओं की तरह रम रहते हैं, रस लेते हैं और पात्रों के सुख-दुख की भाव-गङ्गा में अवगाहन कर पाते हैं ।

‘भीकती’ में चौराहे पर बैठा सूरदास, भोजन के बाद कहता है—

“ले, हाथ इधर करना !”

भीकती ने अपना हाथ सूरदास के पास किया और उस ने चुपके से उस पर दो पैसे रख दिये ।

“जा, अपने लिये दही बूरा लेती जाना ।”

पैसे वापस लेने का आग्रह करते हुए भीकती ने कहा—“मैं यों ही धेली रोज़ चाटा करूंगी तो यह घर कितने दिन चलेगा ? और फिर तुम कुछ खा लो तो ठीक भी है, सारे दिन गला फाड़ते हो । मुझे कहाँ हल में जुड़ना है ?”

दोनों पैसे उसी की मुट्ठी में दबाते हुए सूरदास ने कहा—“जा, जा, दही को जी न चाहे तो मलाई का बरफ़ खा लेना । बाबली ! जो खा-पहन लो, वही अपना है ।”

भीकती आसमान में उड़ी-सी चली । उस का रोम-रोम जैसे रेडियो बन कर बोल रहा था—“हूँ ! जैसे मैं कोई बालक हूँ, दही को जी न चाहे तो मलाई का बरफ़ खा लेना !” और तृप्ति के रस में डूबे उस के ओंठ खिल पड़े !

हमारे दाम्पत्य-जीवन की कितनी सुन्दर, पूर्ण और मधुर भाँकी है । बातें करते सूरदास और भीकती जैसे हमारी आँखों में घूम जाते हैं ।

‘वे तीन दिन’ में सुन्दरसिंह चञ्चल बेश्या के घर दो बार आया और गाना सुन, रुपये लुटा, बिना उस में कोई दिलचस्पी लिये, उधर देखे, चला गया ।

तीसरी बार भी वही बात । इस बार चञ्चल के गर्व की गाँठ खुल गई और खुद मुँह फोड़ कर उस ने चलते-चलते सुन्दर से कहा—

“क्या मैं जनाब के बारे में कुछ जान सकती हूँ ?”

“हाँ, हाँ, नाम सुन्दरसिंह, काम माल बाबू और शौक्र सा-रे-गा-मा !”

“अब कब तशरीफ लाइयेगा ?”

“जब पैर धड़ को उठा लाएँ और तबियत में उमङ्ग हो ।”

“तब भी तो ?”

“कल ही, दस दिन में या फिर कभी नहीं !”

यह एक पुरुष का सही चित्र है—निर्द्वन्द, निर्लिप्त, अभङ्ग-टढ़ ! इस सम्वाद की गहराई समझने और रस लेने के लिये यह आवश्यक है कि नर के प्रति नारी के आकर्षण का मनोवैज्ञानिक आधार हम जानें !

बस एक और,

“तुम दिल्ली की सैर करते रहे मियाँ रहमत, और तुम्हारी शबनम की शादी भी हो गई ! वो बाजे बजे और दावतें उड़ी कि लुत्फ आ गया !”

अपनी दूकान का सामान खरीद कर दस दिन बाद जब देहली से रहमत लौटा तो चुटकियाँ लेते हुए उस की भावज ने कहा । रहमत के लिये यह एक मजाक थी, वैसे ही उस ने उत्तर दिया—“और बेचारी शबनम की शादी देख कर तुम जैसी बुढ़िया को भी रश्क हुआ । क्यों भाभी, है न यही बात ?”

“मुझे क्यों रश्क होगा । मेरे तो छः फीट का गुड्डा बालों में खिजाब लगाये घूमता है । रश्क होगा भैया तुम्हें, जो सिर पर मौड़ बाँधने को पागल हुए फिरते थे, पर शबनम ने जिन की बात भी न पूछी ।”

“जब मेरे सिर पर मौड़ बँधे और शबनम दुलहन बनी शर्माती डोले से उतरे, तब तुम छींक देना और अपने गुड्डे को भी सूँघनी सुँघा देना !”

हमारे परिवार में भाभी जीवन का स्रोत है । वह बड़ी है, पर श्रद्धा के बोझ से हमें नहीं दबाती । हम उस के सामने छोटे हैं, पर अपनी लघुता का पाठ हमें नहीं पढ़ना पड़ता । वह अपने स्नेह का दान करती है, बहिन के रूप में, पर साथी के रूप में साथ ही हँस-बोल कर । वह कोरा सत्य नहीं है, सत्य और नीति का मधुर समन्वय है । ऊपर के सम्वाद में देवर और भाभी का जो चित्र है, वह हमारा प्रति दिन का देखा है और हम उस में अपने जीवन की छवि देख सकते हैं ।

उन के जीवन में इधर आध्यात्मिक परिवर्तन की लहरें आ रही हैं। अब वैभव भरे वातावरण की भ्रम-भ्रम में उन का अन्तर नहीं उलझता और उन्हें आश्रम के स्वप्न आते हैं—यह जीवन भर क्षण-क्षण साथ रहे रज की सत्त्व के प्रति प्रतिक्रिया है।

उन के जीवन में जो यह आध्यात्मिक परिवर्तन हो रहा है, उस का मनोवैज्ञानिक आधार है उन का ईश्वर-विश्वास। अपने छोटे-से पूजा-मन्दिर में बैठ कर जब वे भगवान का ध्यान करती हैं तो बच्चों का कोलाहल और पुकार भी उन के कानों को आन्दोलित नहीं कर पाते। चिरकाल से जैसे वे भगवान की शरणागति का अभ्यास करती रही हैं और दिन-दिन उन की सांसारिक परिस्थितियों के कारण जीवन में व्याप्त 'रज' घुल-घुल कर 'सत्त्व' में लीन होता रहा है।

उन के जीवन में निर्णायक स्वप्नों का एक विचित्र क्रम रहा है, समय-समय पर उन के जीवन में जो बड़े परिवर्तन आये हैं, उन में सदा ही स्वप्नों का निर्देश काम करता रहा है। यह उन के जीवन की एक दैविक घटना है और इसी शृङ्खला में उन के आज के आध्यात्मिक परिवर्तन का अङ्कुर-विकास हम देख पाते हैं।

इस प्रतिक्रिया के दो रूप हैं। एक साहित्यिक और दूसरा सामाजिक। साहित्यिक रूप यह कि अब अपनी

कहानियों में वर्णन और चित्रण के साथ वे विश्लेषण की ओर अभिमुख हो चली हैं। हमारे देश में पुरुष बुरी तरह स्त्रियों को घूरते हैं। देश भर की शिक्षित-अशिक्षित स्त्रियाँ, इस के लिये पुरुषों को कोसती हैं और हम पुरुष स्वयं अपनी हीनता अनुभव करते हैं, पर अपनी 'धवल छत्र की छाया में' कहानी की भूमिका में चन्द्रवती जी ने इस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर के इसे पुरुषों के लिये लांछन मानने से इंकार कर दिया है। सम्पूर्ण पुरुष जाति को इस के लिये उन का कृतज्ञ होना चाहिए।

‘भैया की डायरी’ और ‘गरीब का ईमान’ में भी कई जगह उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति का सूक्ष्म प्रदर्शन किया है। हम चाहेंगे कि उनकी यह प्रवृत्ति अधिक विकास ले और उस से हमारी हिन्दी के कहानी-साहित्य में सत्य और शिव की सृष्टि हो।

‘जीवन-कला-मन्दिर’ की आयोजना, उस प्रतिक्रिया का सामाजिक रूप है। इस संस्था की अभी आरम्भिक रूप-रेखा ही सामने आई है, पर उसी के सहारे मैं कह सकता हूँ कि अगले दस वर्षों में यह संस्था अपने ढङ्ग पर उत्तर भारत में छोटे शान्ति-निकेतन का-सा स्थान और सम्मान ग्रहण करेगी। बालक, नारी, दलित और साहित्य उस के ये चार विभाग हैं। इधर उस के अधिष्ठाता के रूप में चन्द्रवती जी ने हमारे घरेलू नौकरों के सम्बन्ध में कुछ

परीक्षण किये हैं कि कैसे उन के जीवन का मानदण्ड ऊँचा उठे और बालकों के सम्बन्ध में श्री ऋषभसैन जी ने कि उन का विकास सुगम हो । ये सब प्रवृत्तियाँ इस बात के सङ्केत हैं कि मानवात्मा की सेवा की पुकार उन के भावुक हृदय तक पहुँच गई है और निकट भविष्य में उन के द्वारा हमारी संस्कृति, हमारे समाज और हमारे साहित्य के लिये कुछ विशिष्ट कार्य होने को है । मैं जानता हूँ, उन के साधन विस्तृत हैं, उन की सङ्गठन-शक्ति सबल है, उन में सूझ है और भगवान की कृपा उन के सिर पर है । मेरा विश्वास है कि सफलता निश्चय ही उन के द्वारदेश का आश्रय ग्रहण करेगी और अपने उद्देश्य की पवित्रता और ऊँचाई उन्हें दिन-दिन बल देगी ।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

नींव की ईंट



भीकती भिखारिन

सड़क पर पड़े ढेले के पीछे भी एक इतिहास है और उस के जीवन की भी एक कहानी है। इधर-उधर उड़ते छोटे-से पीले पत्ते के पीछे भी एक इतिहास है और उस के जीवन की भी एक कहानी है, तो भीकती के पीछे भी एक इतिहास होगा और उस के जीवन की भी एक कहानी है।

पर कहानी-लेखिका का काम किसी के जीवन की घटनाओं के सन्-संवत् इकट्ठे करना नहीं है और न उसे साल-साल के व्यौरों की प्रदर्शिनी ही करनी है। वह तो कहानी-लेखिका है और उस का काम जीवन के विशाल बिखरे पृष्ठों में से थोड़ा-सा संग्रह करके बाक़ी 'सब' को छोड़ देना है।

वह 'सब' भी बहुत उपयोगी है, पर जीवन में उपयोगी तो खाद भी है और रेखाएँ भी । कलाकार सिर्फ़ उन पतली रेखाओं का ही उपयोग करता है और किसान के लिये यह सब ऊल-जलूल बातें हैं । उसे जीवन में बस खाद का ही उपयोग करना है ।

भीकती का असली नाम भूमकी था । वह कब और कहाँ माँ के पेट से इस धराधाम पर उतरी और कैसे घर के ममता भरे वातावरण से छूट कर भिखारिन बनी, इस का लेखा-जोखा मैं नहीं दूँगी । भूमकी अब भीकती है, भिखारिन है, बस यहीं से मेरी कहानी का आरम्भ है ।

भीकती ने जिस दिन भिखारी-जीवन में प्रवेश किया, उस का एक मनोरञ्जक संस्मरण है । रामदीन की दोनों आँखें जन्म से ही अन्धी थीं । चढ़ती उम्र, भरा बदन और पक्का रङ्ग । गला लोचदार न हो तो सूरदास क्या ? वह रेलवे रोड के चौराहे पर, पेड़ के नीचे बैठता और सुबह से शाम तक रट लगाता था । उस के गले में कुछ ऐसा दर्द था और उस की जन्म-कुण्डली में ग्रहों का जमाव कुछ इस तरह हुआ था कि उसे देख कर बड़े-बड़े कंजूसों की अँगुलियाँ बटवे से टकरा जाती थीं ।

भीकती ने उसे देखा और धीरे से आकर वह उस के पास बैठ गयी; लगी-लगी-सी, कुछ बची-बची-सी, सङ्कोच

में लिपटी, आकाशबेल-सी लहराती, बल खाती और सकुचाती ।

“सूरदास, तुम कहाँ रहते हो ?”

“माई, भिखारी का क्या रहना ? भगत मङ्गलदास की बगीची में पड़ा रहता हूँ । और भी बहुत से फकीर वहाँ रहते हैं ।”

“तुम्हें यहाँ कौन छोड़ जाता है सूरदास ?”

“कौन छोड़ जाता माई, और कौन लेजाता ! टटोलता हुआ सुबह आजाता हूँ और शाम को चला जाता हूँ ।”

“और जो कहीं ठोकर लग जाय ?”

“ठोकरें खाने को तो अन्धे का जन्म-ही होता है माई !”

“हाय-हाय, सूरदास ! तुम ऐसी बातें क्यों करते हो ?” भीकती का मन करुणा से भीग गया और न जाने कब और कैसे उस का दाहिना हाथ सूरदास के कन्धे पर जा टिका । सूरदास का रोम-रोम जैसे एक मीठे कम्प से भर गया और भीकती के मन में जैसे युग-युग की सोई एक आकुल प्यास जाग उठी । उसका शरीर अनजाने सरक कर सूरदास के और भी पास हो आया ।

अब भीकती का घुटना सूरदास के घुटने से मिला था और उस का हाथ धीरे-धीरे सूरदास की कमर पर

लोरियाँ-सी देरहा था; जैसे मास्टर अपने लड़के शिताबी पर हिप्रोटिज़्म के पास कर रहा हो ।

“सारी दुनिया की दौलत एक तरफ़ और आँख की दौलत एक तरफ़ । आँखें वालो ! इस अन्धे की तरफ़ भी देखते जाना !”

सूरदास अपने भिच्चा-आन्दोलन का यह नारा बीच-बीच में लगा देता था । आज उस के फेफड़ों में उमङ्ग की जो उभरन थी, उस ने उस के गले के लोच को और भी दोबाला कर दिया था ।

उसके भीतर—मन के आँगन में—कल्पनाओं की पुतलियाँ नाच रही थीं और पलक मारते न जाने कितने हवाई महल उसने खड़े कर लिये थे ।

अब सारे भिखारी उस की किस्मत पर रश्क करेंगे और वह राजा की तरह रहेगा । क्या जरूरत है उसे कि अब वह सन्तराम और नन्दा, भिखारीदास और गिरधर के सामने एक-एक टुकड़े को हाथ पसारे । अब उस के यहाँ बाक्रायदा भोजन बनेगा और उसी से ये लोग टुकड़े माँगेंगे । मैं बैठ कर रोटी खाऊँगा और यह पङ्खा भलेगी ।

थोड़े दिनों में गोपालजी की कृपा से लड़का हो जाएगा और मेरे पेट पर बैठा खेला करेगा । अब भी भगवान की दया है, धेली रोज़ फटकार ही लेता हूँ ।

खा-पीकर तीन बिस्सी रुपये जोड़ लिये हैं। फिर तो बच्चे को देख कर लोगों में और भी दया उपजेगी। दिन भर में एक डबबल चतुर्भुजी फटकार दिया करूँगा और बस अलग कुटिया बना लूँगा।

उस की अन्धी आँखों में जैसे रोशनी उतर आई।

भीकती खामोश थी, पर खामोशी की इस धुरी पर विचारों का पहिया बराबर घूम रहा था। उस के अँधेरे अन्तर की अमा में आज जैसे दीपावली जगमगा उठी थी।

अब उस का भी कोई अपना है। आँखें नहीं हैं तो क्या, कैसा सुन्दर है सूरदास ! किस्मत का धनी है; पैसा-ही-पैसा बरसता है दिन भर ! अब तक तो जो कमाता है, उड़ा देता होगा। अब मैं देख-भाल कर खर्च करूँगी और एक पैसा खर्चूँगी तो एक बचाऊँगी। घर में दुख पहले है, सुख पीछे। ठण्ड लग जाए, आजाए बुखार, चार दिन पड़ना पड़े, तो क्या मैं माँगती फिरूँगी !

भीतर का सन्तोष उस के चेहरे पर चमक आया। चिर अतीत में, समारोह भरी सभा के बीच, जीवन-साथी का स्वयंवर कर, नारी को यह सन्तोष, इस मात्रा में मिला होगा या नहीं, कहानी-लेखिका के लिये यह कहना कठिन है।

शाम को सूरदास चला तो भीकती ने उस की लाठी अपने हाथ में लेली। सूरदास आज जैसे हवाई जहाज पर

चढ़ा चला जा रहा था। मङ्गलदास की बगीची में आज की सन्ध्या सूरदास के भाग्य की चर्चा में डूब गयी।

इस चर्चा में प्रसन्नता और ईर्ष्या की दो तहें थीं। ऊपर प्रसन्नता की और नीचे ईर्ष्या की। कहीं-कहीं तो नीचे की तह इतनी उग्र थी कि वह ऊपर की तह को बेध कर भाँक चली थी, पर सूरदास का आज इधर ध्यान न था।

उसने अपनी फतुही की जेब से दिन भर की कमाई निकाल कर भीकती के हाथ में रख दी।

“ले, ज़रा गिन तो कितने हैं ?”

“आठ आने पूरे और सवा आना है !”

भीकती ने उत्साह में डूब कर वे पैसे गिन कर कहा और जैसे अपना बैंकिङ्ग का सम्पूर्ण ज्ञान उन पैसों पर बखेर दिया—“आठ आने पूरे और सवा आना है।”

“है भागवान ! रोज़ मुश्किल से धेली हाथ लगती थी। आज उस के ऊपर भी हनुमानजी का पञ्जा है।”

भीतर का उत्साह जैसे सूरदास के कन्धों में गमक उठा, और उसने टटोल कर भीकती का मुँह चूम लिया।

बीसवीं सदी की कहानी-लेखिका को साहित्य के नभ में, कल्पना के सहारे, उड़ान भरने का अधिकार एक सीमा तक ही है, नहीं तो नवल-दम्पति के इस मधुर-मिलन पर

आठ

आकाश से फूल बरस पड़ते, दिशाएँ हँसने लगतीं और स्वर्ग के देवता, विमानों पर बैठे, प्रेम के इस महोत्सव को देखने दौड़े आते ।

उन्नीसवीं सदी का अन्त होता तब भी, चारों ओर से—सभी दिशाओं से—प्रेम की गुञ्जार सुनाई देती और हरेक वृक्ष एवं पल्लव उस की प्रतिध्वनि करता ।

नये युग ने कहानी-लेखिका को जो कुछ अधिकार दे रखे हैं, उन का वह पूरा उपयोग भी करे तो यही कहेंगी कि दो विभिन्न दिशाओं से आने वाली रेलवे-लाइनों की तरह, वे प्रेम के काँटे पर मिले और एक होगये थे । उन की जीवन-रेल अब उस समान पटरी पर निर्बाध गति से बढ़ी चली जा रही थी और यह भी कि अब यह कहना कठिन था कि यह गाड़ी असल में किस पटरी से आकर इस समान पटरी पर चढ़ी है ।

२

सुबह को भीकती सूरदास का हाथ थामे, उसे चौराहे पर छोड़ जाती । पहले सूरदास की सारी चेतना मार्ग का सन्धान करने में व्यय होजाती थी—वह मोटर, यह साइकिल, वह ताँगा । बाईं ओर, दाईं ओर, और मोड़ की सतर्कता, पर अब ये सब जिम्मेदारियाँ भीकती ने

अपने ऊपर ले ली थीं और इन सब के स्थान में सूरदास के मन में आ बैठी थी भीकती ।

वह भीकती का चिकना हाथ थामे, उसी के ध्यान में डूबा चला जाता । अब उसे अपनी चाल हावड़ा एक्सप्रेस से भी तेज लगती ।

चौराहे पर पहुँच कर, भीकती अपनी बगल से निकाल कर, दरी का एक टुकड़ा बिछाती और उसे फटे बोरी के एक टुकड़े से ढक देती । सूरदास उस आसन को छूकर हाथ माथे से लगाता, मङ्गलाचरण करता— 'देना बरकत गोपाल' और बैठ कर आसन को एक बार हाथ से टटोलता ।

उस के गुदगुदेपन से उस का मन गुदगुदा उठता और उसे वह लुत्फ आता जो पहली बार दिल्ली के तख्तताऊस पर बैठे नादिरशाह को भी न आया होगा । उस की सफेद आँखें और काले ओंठ, दोनों में एक साथ हँसी भर जाती और भीतर की मस्ती भीतर न समा कर, जैसे उस के स्वर में बाहर मचमचा उठती—

“आँखें वालो ! इस अन्धे की तरफ भी देखते जाना !”

पास खड़ी भीकती यह सब देखती और भूल जाती कि वह कहाँ खड़ी है । चौराहा, मुसाफिर, खटपट, सब कुछ वह भूल जाती और सच तो यह है कि वह दस

सूरदास को भी भूल जाती । उस के भीतर भर जाता एक गूंगा आनन्द और उसे दिखाई देती सूरदास के चेहरे पर इठलाती मस्ती की लहरें और उन पर तैरता खुद उस का रूप !

“अच्छा, आज क्या बनाऊँ तुम्हारे लिये ?”

“जो तुम्हें रुचे, और तुम तो जो भी बना लेती हो उसी में रस आजाता है ।”

“बात-बे-बात, बस तुम्हें तो मेरी तारीफ़ के पुल बाँधने हैं ।”

और वह भोजन का प्रबन्ध करने बगीची की ओर लौट पड़ती । चौराहे के दूसरे किनारे जाकर वह एक बार पीछे की ओर देखती कि सूरदास बैठा गमक रहा है । इस के बाद भी दूर तक सूरदास की आवाज़ उस के कानों में आती रहती—

“आँखें वालो ! इस अन्धे की तरफ़ भी देखते जाना !”

भीकती का रोम-रोम अनबोलती बोली में बोल उठता—“कैसी प्यारी आवाज़ है सूरदास की !” और उस की आँखों में घूम जाता सूरदास के उभरे पुट्टों का शरीर । रस भरी कल्पना के भूले पर भूलती भीकती बगीची में आ पहुँचती ।

दोपहर को भीकती रोटियाँ लेकर चौराहे पर पहुँचती और एक ही वाक्य में सूरदास का सारा थकान उतार देती—

“लो, खाना खा लो ! चिल्लाते-चिल्लाते गला भी टूट जाता होगा । दुनिया जानती है, ये भिखारी आराम की तोड़ते हैं । इन बाबुओं को एक दिन यहाँ बैठना पड़े तो पता चले कि भीख की रोटियाँ कितनी मीठी होती हैं ?”

“भोजन तो ऐसा बनाती है कि राजा भोज के महलों में भी न बनता होगा । पर यह यहाँ तक गरम कैसे रहता है ?”

भीकती ममता की गङ्गा में डूब-डूब जाती ।

“गरम-गरम कपड़े में लपेट कर, दौड़ी चली आती हूँ ।”

सूरदास की अन्धी आँखों में खेल गई एक तस्वीर दौड़ी-दौड़ी आती भीकती की और जैसे उस के शरीर का खून भी जोर से दौड़ चला ।

भीकती अपने आँचल का पट्टा झलती और सूरदास भोजन करता ।

“शहरों में तो हरेक आदमी लाट साहब बना फिरता है सूरदास ! पता नहीं, इन पर इतना धन कहाँ से टूट पड़ा है ।

सूरदास ने अपने विगत जीवन के अनुभव की भाँकी लेते हुए कहा—“ये लाट साहब पूरे पशु हैं, जानवर ! भिखारी को ये पैसा नहीं देते, उपदेश पिलाते हैं कमबख्त ! जब पुराने ढङ्ग के सीधे और गरीब आदमी बारह

इस दुनिया में न रहेंगे तो इन लाखों भिखारियों का क्या होगा, मैं यही सोचा करता हूँ भींकती ?”

“चलो, भगवान तब भी कुछ करेंगे ही । आखिर रिजक का ठेका तो रहीम ने ही ले रक्खा है !”

“और क्या ?”

“तुम कहो तो मैं कचहरी के चौहारे पर बैठने लगूँ ? दो-चार आने मिलेंगे ही । खा-पीकर दस पैसे पीछे पड़ेंगे तो कल को काम आवेंगे । पता नहीं कैसा समय आने वाला है ।”

मीठे-मीठे फिड़क कर सूरदास ने कहा—“पगली, कैसा-ही समय आए, मैं तो हूँ ! तुम्हें अपने जीते जी मैं चौराहे पर बैठने दूँगा मेरी रानी ?”

पता नहीं, भींकती इस सम्बोधन के बाद रानी हुई या नहीं, पर स्वयं सूरदास की छाती राजा के गौरव से भर उठी । बीसवीं सदी की पावन्दियों का भय न होता तो कहानी-लेखिका उपमाओं और अलङ्कारों का ऐसा जाल बिछाती कि पाठक उर्दू मशायरों की तरह वाह-वाह से आकाश गुञ्जा देते !

“ले, हाथ इधर करना !”

भींकती ने अपना हाथ सूरदास के पास किया और उस ने चुपके से उस पर दो पैसे रख दिये ।

“जा, अपने लिये दही-बूरा लेती जाना ।”

तेरह

पैसे वापस लेने का आग्रह करते हुए भीकती ने कहा—“मैं यों ही धेली रोज़ चाटा करूँगी तो यह घर कितने दिन चलेगा ? और फिर तुम कुछ खा लो तो ठीक भी है, सारे दिन गला फाड़ते हो । मुझे कहाँ हल में जुड़ना है ?”

दोनों पैसे उसी की मुट्ठी में दबाते हुए सूरदास ने कहा—“जा, जा, दही को जी न चाहे तो मलाई का बरफ़ खा लेना । बावली ! जो खा-पहन लो, वही अपना है ।”

भीकती आसमान में उड़ती-सी चली । उस का रोम-रोम जैसे रेडियो बन कर बोल रहा था—“हूँ ! जैसे मैं कोई बालक हूँ, दही को जी न चाहे तो मलाई का बरफ़ ले लेना !” और तृप्ति के रस में डूबे उस के ओंठ खिल पड़े !

३

“तुम ही हो मेरे माई-बाप, एक पैसा भूखे पेट को दइयो !”

उस दिन ‘रामलिला’ के—मीठे गीत की तरह—लोच भरे स्वर से चौराहा भर गया और इस नये स्वर की लहरों में सूरदास को लगा, जैसे उस का स्वर डूबने लगा है ।

चौदह

“यह भूतनी-सी कौन चिल्ला रही है भींकती ?”

“भूतनी क्यों, कम्बरूत परी है परी । भीख माँगने की आदत है, किसी कोठे पर जा बैठे तो लाख का जेवर पहने !”

भींकती जब घर चली गई तो सूरदास के कानों में जैसे उस की आवाज बार-बार गूँजने लगी—‘कम्बरूत परी है परी ।’

वह सोचने लगा—रूप का पता तो आँख वालों को होगा, आवाज जरूर परी जैसी है । पर यह परी यहाँ कुछ दिन जम गई तो इस की आवाज के तूफान में मेरा तो सारा रोजगार ही डूब जाएगा । भगवान करें, इसे रात में लेग होजाए ।

सूरदास के भीतर एक सिनेमा-सा खुल गया । एक परी-सी भिखारिन एक सुनसान कुटिया में अपने बिस्तरे पर पड़ी तड़फ रही है । लेग का वह शिकार है । बुखार १०७ तक, जैसे वह इस ज्वाला में जल जायेगी । कोई पानी की बूंद देने वाला नहीं और उसके भीतर प्यास की आँधी चल रही है । भिखारिन मर रही है । उस का परी-सा रूप मलीन होने लगा है । कभी-कभी वह आँखें खोल कर इधर-उधर देखती है, और ऐसा लगता है कि अब बस वह सदा के लिये आँखें बन्द कर लेगी !

सूरदास का जी धक्-से हो गया । यह लेग उसी के श्राप का तो साकार रूप है । और वह जैसे उस

भिखारिन को बचाने के लिये अधीर हो उठा । नहीं, वह उसे मरने न देगा । उस के पास जीवन भर की जो भी जमा-जोखम है, वह सब फूंक देगा, डाक्टरों की भीड़ जोड़ेगा, महावीर स्वामी का कड़ाह करेगा, पर उस परी-सी भिखारिन को मरने न देगा ।

“तुम ही हो मेरे माई-बाप, एक पैसा भूखे पेट को दइयो !”

परी-सी भिखारिन की आवाज सूरदास के कानों में पड़ी और झटका खा कर वह जैसे आसमानी दुनिया से जमीन पर आगया ।

ओह, वह परी-सी भिखारिन तन्दुरुस्त है और उस के ही खेत में, उस की छाती पर मूङ्ग दलने को बैठी है । यहाँ यह जम गई तो इस की आवाज के तूफान में मेरा तो रोज़गार ही चौपट हो जाएगा !

सूरदास के मन में आया कि उस का श्राप इसी घड़ी भयङ्कर रूप धारण कर ले और सेग का भूत इस सुन्दर साँप का गला घोट दे । पर दूसरे ही क्षण उसे सन्तोष हुआ कि उस के श्राप में दुर्वासा के श्राप की-सी शक्ति नहीं है, इस लिये चौराहे की शकुन्तला सुरक्षित है ।

सूरदास अपनी लाठी लिये उठा और स्वर की सीध लिये उस परी-सी भिखारिन से जा लगा । भिखारिन ने देखा—सूरदास के रूप में, स्वर्ग की कोई विभूति, बिना सोलह

बुलाये, उस के सम्मुख आ खड़ी है । उस की हसरत भरी आँखों में वह जैसे रम गया । अपने फटे कम्बल का आसन उस ने सूरदास के नीचे बिछा दिया ।

“तुम तो यहाँ बहुत दिन से बैठते हो सूरदास ?”

“हाँ, कई साल हो गये हैं । तुम कहाँ से आ रही हो ?”

“भिखारी का कहाँ क्या ? यों ही घूमती आ निकली, चार दिन में आगे हो जाऊँगी ।”

चार दिन में उस के चले जाने की यह बात सूरदास को अच्छी नहीं लगी । उस ने दो आने अपनी फतुही में से निकाल कर भिखारिन के हाथ पर रख दिये ।

“ले, शाम को चार कचौरी खा लेना । अभी नई है । पता नहीं कोई पैसा मिला होगा या नहीं । काम धीरे-धीरे ही जमता है ।”

“सूरदास, यह तुम्हारे साथ बुढ़िया कौन है ?”

“कौन बुढ़िया ? मेरे साथ तो कोई बुढ़िया नहीं है ।”

“वही जो खाना ले कर सुबह आई थी !”

“अच्छा, भीकती ? वह बुढ़िया है ? हाँ, वह मेरे साथ रहती है !”

“बुढ़िया नहीं तो क्या जवान है ? जैसी सूरत है, वैसा ही नाम है ।”

सूरदास आकर अपनी जगह बैठ गया। सड़क खूब चल रही थी, पर आज पैसों की तरफ उस का ध्यान न था। उस के अन्तर-सागर में आज एक नया ज्वार आ गया था।

भीकती का जैसा नाम है, वैसी ही उस की सूरत है। वह बुढ़िया नहीं तो क्या जवान है ? और यह भिखारिन ? रूप में परी, कण्ठ में कोयल और उम्र में षोडशी ! ऐसे लोच में पैसा माँगती है कि मुर्दे भी अण्टी टटोलते चले आएँ !

यही सब सोचते उसे शाम होगई और बगीची में पहुँच कर, भीकती ने उस से आज की कमाई माँगी, तो कोरा सूरदास सूनी आँखों से उस की तरफ देखता रह गया। दोनों के लिये यह नया अनुभव था।

“आज एक भी पैसा नहीं आया ? पहले ही दिन उस रान्नी ने चौपटा पढ़ दिया ? हे भगवान ! हमारा क्या होगा ?”

सूरदास ने अब सही-सही समझा कि वह दिन भर क्या करता रहा ? उस के गले में आया कि कह दे—
“उस बिचारी का क्या क्रसूर, मैं खुद ही बुढ़िया और परी के झमेले में उलझा रहा।”

अठारह

अचानक उस के मुँह से निकल गया—“सुबह-ही-सुबह दो आने आये थे, वे ही मैंने उस परी को दे दिये । उस बिचारी के पास कुछ भी न था !”

दिन भर उस के दिमाग में परी का चक्कर रहा था । इस समय भी अनचाहे, वह परी कह गया । कह कर वह पछताया भी और मेंपा भी ।

भीकती सिर्फ ‘हूँ !’ कह कर रह गई, पर उस के भीतर एक बवण्डर उठ खड़ा हुआ ।

खाना खाते समय सूरदास ने भीकती से अचानक पूछा—

“तुम्हारी कितनी उम्र है रानी ?”

भीकती ने देखा—यह ‘रानी’ सत्य के ढकने का स्वर्ण-पात्र है और सचाई यह है कि उस के जीवन-जहाज से परी का टारपीडो टकरा गया है । उस का रोम-रोम सिहर उठा । उस ने चाहा कि वह हँस कर यह जहर पी ले, पर पी न सकी । उस का मन विद्रोह कर उठा—

“मेरी उम्र कितनी भी हो, मैं परी नहीं हूँ !”

सूरदास ने यह बवण्डर देखा और अङ्गारे को राख से ढकने की चेष्टा करते हुए कहा—“मेरे लिये तो तुम परी ही हो !”

पर भीकती के निकट आँचल का यह आवरण प्रदीप को ढक न सका ।

भीतर-ही-भीतर आग सुलगती रही । भींकती हार रही थी, परी जीत रही थी, सूरदास खुश था । अब भींकती की 'धेली' घट कर 'पावला' रह गई थी । वह इस का अर्थ जानती थी और सूरदास को खूब जली-कटी सुनाती थी, पर नदी अपने रास्ते बही चली जा रही थी ।

पहले सूरदास भींकती को अपने पास से घण्टों न जाने देता था । अब भोजन लेते ही उसे आराम करने की सलाह देने लगता है । वह जानती है, आराम किसे चाहिए, पर वह करे क्या ?

बिना मतलब अब उस पर रोज़ गालियाँ पड़ती हैं । 'लुटाता हूँ तो अपनी कमाई, तेरे क्या बाप का माल है ?' यह सुनना अब उस के लिये एक साधारण बात हो गई है ।

उस दिन भींकती का नारी-हृदय पूर्णतया विद्रोह कर उठा—“मेरे बाप का माल नहीं है, पर मैं रात-दिन हाड़ जो पेलती हूँ । और आज तुम्हें परियाँ लिपटने लगी हैं, वह दिन याद नहीं जब तुम ठोकरें खाया करते थे ?”

सूरदास का पौरुष भी आज खुल कर खेल गया । उस ने अपने मजबूत हाथों से भींकती का बेणी-संहार करते हुए कहा—“कल से यहाँ हाड़ पेलने की जरूरत नहीं

है, किसी राजमहल में आरती उतरवाया करना । और मेरे ठोकर खाने की बात तो तुझे याद है, पर यह भी याद है कि तीन-तीन पैसों पर तब तू क्या खाती फिरा करती थी ?”

जो तार टूट कर भी महीनों से उलझ रहा था, वह आज पूरी तरह टूट गया । दूसरे दिन जब भीकती खाना ले कर चौराहे पर आई तो उस ने देखा, परी और सूरदास दोनों एक साथ खाना खा रहे हैं । कोई उस से नहीं बोला और न सूरदास ने उस का खाना लिया ।

फिर भी नारी की बेबसी में लिपटी भीकती, जब शाम को सूरदास के पास जाने को हुई तो उस ने देखा कि सूरदास और परी दोनों चले आ रहे हैं । यह उस के निर्वासन का बेलिखा हुक्म था !

*

*

*

अब चौराहे पर सूरदास और परी दोनों एक साथ बैठते हैं और कभी सूरदास आवाज़ लगाता है तो कभी परी । इस जोड़ी की खूब चर्चा है और दोनों को खूब पैसे मिलते हैं ।

भीकती भी इसी चौराहे पर, दूसरी ओर अब बैठने लगी है । पर वह किसी से कुछ माँगती नहीं । बिना माँगे, जो भी मिल जाता है, वही खा लेती है ।

वह दिन-दिन सूखती जा रही है, पर उस का ध्यान मुसाफ़ि़रों की तरफ़ नहीं जाता । वह सूरदास और परी को देखती रहती है । यहाँ उसे पेट की भूख ले आती है या परी की डाह, इसे कौन बताये ?

मेरी चुटिया उस के हाथ में थी

तब मेरी शादी हुए कुछ ही दिन गुजरे थे और मेरा जीवन लहङ्गे और घूँघट की चार दीवारी में सात समुद्रों की दुनिया समझा करता था। मेरा कमरा कोठी के ऊपर वाले हिस्से में था। मेरे पति आगरा कालेज में पढ़ते थे, इस लिये मेरा अधिकांश समय अपने कमरे में किताबें पढ़ते ही बीतता था।

मेरी सास-ननद मुझ से खुश थीं और सभी नौकर मेरी बात हुक्म की तरह मानते थे। बस मुझे यहाँ के भङ्गी से चिढ़ थी। एक तो वह ठीक समय पर न आता था और जब बेवक्त आता, तो धम-धम कर के किवाड़ तोड़ता चला आता। मैं जब तक चटखनी खोलने उठती, वह दस-बीस बार किवाड़ खटखटा देता।

मैं बड़े घर की लड़की थी और बड़े घर की बहू मेरी तबियत में नौकरों के लिये खास कायदे थे, इस लिये मैं उस का ढङ्ग बहुत बेहूदा लगता, पर मैं उस से घृणा निकालती थी—दम घोट कर रह जाती ।

वह आता और इधर-उधर के रिमार्क कसता चला जाता । वह घर का पुराना भङ्गी था और बच्चे उसे तमासा कहा करते थे । वह जानता था कि मैं उस से कुढ़ती हूँ, जैसे उसे इसकी परवाह न थी, वह पूरा ढीठ था ।

२

उस दिन कोई बारह बजे होंगे । मैं आराम कुर्सी लेटी 'मेरी कुरेली' का एक उपन्यास पढ़ रही थी । बाकी चिट्ठी कई दिन से न आई थी । मैं आज खास पर डाक की प्रतीक्षा में थी ।

अचानक धम-धम की आवाज़ से कोठी का वाला हिस्सा गूँज उठा । मेरी आँखों में ढीठ बूढ़े की सूरत घूम गई । किताब हाथ से रख कर मैं रेशमी दुपट्टा सँभाल कर मैंने घूँघट निकाला, पलक तक किवाड़ न जाने कितनी बार धमक उठे ।

भीतर-ही-भीतर कुड़मुड़ाती मैं दरवाजे तक और धीरे से चटखनी खोल कर लौट पड़ी ।

एक झटका लगा। मेरी चुटिया उस के हाथ में थी और मैं बरबस पीछे की ओर खिंच रही थी।

यह हिम्मत ! मेरे सारे शरीर में आग लग गई, और पूरे जोर से मैंने अपनी कुहनी उसे लक्ष्य कर पीछे की ओर मारी। इसी छीना-झपटी में मेरा घूँघट खुल गया और मेरी नज़र पीछे की ओर जा फिरी।

उफ़ ! बूढ़े भङ्गी का कहीं पता न था। मेरी चुटिया बाबू जी के हाथ में थी और वे मुस्करा रहे थे। न जाने कब मैं उन की ओर खिंच गई।

“तुम बड़े खराब हो। किवाड़ पीटते रहे और जबान न हिली। कब आये तुम ?”

जबान हिला देता तो गामा पहलवान के दर्शन कैसे होते ?”

“तुम गामा के दर्शन कर रहे थे और मैं बूढ़े भङ्गी को पीटने की तैयारी। चलो खैर हो गई !”

पता नहीं वे क्या समझे, पर जोर से हँस पड़े।

अञ्जनहारी

१

गेलीलियो ने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा से दूरबीन का आविष्कार किया, जिस से हमें दूर की चीज़ भी पास-सी दिखाई देती है। मैं सोचती हूँ, गेलीलियो को इस यन्त्र के आविष्कार में बरसों लगे होंगे और न जाने कितनी रातें उस ने इस चिन्ता में जाग कर बिताई होंगी। आखिर उसे यह बेचैनी क्यों थी कि दूरबीन बने ?

ऊपर से तो यह सवाल एक मज़ाक है, पर वाकई हरेक आविष्कार के पीछे उस की आवश्यकता तो सिद्ध होनी है। तो दुनिया चाहती थी कि दूर की चीज़ें भी दिखाई दें। उसे इस के लिये आकुलता थी और इस आकुलता ने वैज्ञानिक के मन को अपील की, वह जुटा और एक चीज़ आई।

मन प्रश्नों की खान है। वहाँ नये-नये प्रश्न उमड़ते हैं। तो मनुष्य में दूर की चीज़ देखने की यह आकुलता क्यों उपजी ? उस के आस-पास जो कुछ है, उसे तो वह अभी नहीं देख पाया। हमारे चारों ओर, सुख-दुख की धूप-छाँह में, जो रात-दिन सृष्टि-विनाश का अभिनय हो रहा है, उस की ओर से आँखें बन्द कर के हम चन्द्रलोक की सैर को क्यों आकुल हैं ?

मेरे अपने-ही घर में इस मास जो कुछ हो गया, उस पर यों ही मेरी निगाह चली गई। नहीं तो कहाँ इस तरह का लेखा-जोखा कोई तैयार करता है ?

एक अञ्जनहारी ! सृष्टि के अनन्त प्राणियों में यह भी एक उड़ना जीव है। वह रात-दिन हमारे पास उड़ती है। हमारे बालक तक उसे जानते हैं, पर हम नहीं जानते कि उस के नामकरण का इतिहास क्या है ? बस वह अञ्जनहारी है, पीली बर् का लाल-घुसरैला ज़रा बड़ा-सा संस्करण। बर् काटती है, वह आम तौर पर नहीं काटती। हमारे घरों में अपने मिट्टी के घर बनाती है। जन्म-जन्म से बूढ़ी माँ और नानियाँ बच्चों को पढ़ाती आई हैं कि जो इस घर को तोड़ेगा उस की आँख में अञ्जनहारी निकलेगी।

अञ्जनहारी ! बेचैन करने वाली आँख की एक फुन्सी। एक जीता जागता जीव और एक फुन्सी; दोनों का यह बत्तीस

एक नामकरण कैसे हुआ, कब और किस आचार्य के द्वारा हुआ, इसे शायद कोई नहीं जानता !

मैं अपने पलङ्ग पर पड़ी फ्रेञ्च ग्राम्य-गीतों का एक संग्रह पढ़ रही थी कि एक अञ्जनहारी झरोखा लाञ्छन कर कमरे में आगई—भर्र घूं घूं भर्र ! यों ही मेरा ध्यान उधर चला गया । ज़मीन में गड़े धन को जैसे भेदिया चोर टटोलता है, वैसे ही वह कमरे का कोना-कोना देख चली । कोई आध घण्टे में उसकी यह 'सर्वे' समाप्त हुई और एक स्थान उसे पसन्द आ गया । यह झरोखे के ठीक नीचे था । पसन्द इस माने में कि इस पर वह काफी देर तक खोज-पड़ताल करती रही और उड़ गई ।

मुझे अपने पर झुंझलाहट आई कि मैंने यों ही इतनी देर उसे देखने में खराब की, पर दूसरे दिन भोजन करके जब मैं फिर लेटी, तो देखा कि ठीक उसी जगह मिट्टी का एक गोलघर तैयार हो रहा है । मस्जिद के गुम्बद-सा एक गोलघर और बीच में छेदनुमा दरवाज़ा !

२

जीवन में अनेक कोठियाँ बनते देखने का अवसर मिला है और दूसरे भवन भी ! बचपन में पिता के घर

तैंतीस

और जवानी में पति के यहाँ, अब भी कहीं-न-कहीं 'टाँकी' लगी ही रहती है फिर इस छोटी-सी अञ्जनहारी के इस गृह-निर्माण में ऐसा क्या आकर्षण था कि फ्रेंच ग्राम्य-गीतों के उस मद भरे रस-प्रवाह को छोड़ कर मन उस में जा उलझा ?

मकान छोटा हो या बड़ा उस के निर्माण में कितने आदमी भाग लेते हैं ?

“माँ ! मेरा वह रेशमी गाउन ला दे, मैं अपने निष्ठुर प्रेमी से मिलने जाऊँगी ।”

बीमार बेटी ने माँ से कहा, तो वह बोली—

“बेटी ! तू सप्ताह भर से खाट पर पड़ी है । डाक्टर ने उठने को भी मना कर दिया है और तू उतनी दूर जायेगी ?”

माँ की चिन्ता बेटी ने देखी और उसे निश्चिन्त करते हुए कहा—

“माँ, तू मेरी चिन्ता न कर । इन डाक्टरों की दवा से मैं अच्छी न हूँगी । अपने प्रेमी से बिना मिले, मुझे चैन न पड़ेगी । तू मुझे जाने दे माँ, ला मेरा रेशमी गाउन और चमकीली धारी का हैट !”

प्रेमी कितना निष्ठुर है कि बीमारी में भी मिलने नहीं आया, पर उस बेचारी को इस का ध्यान नहीं है । वह उस से मिलने को आतुर है । कितना रस-मय है यह फ्रेञ्च चौतीस

ग्राम्य-गीत । और मैं फिर सोचने लगी—मकान छोटा हो या बड़ा उस के निर्माण में कितने आदमी भाग लेते हैं ? कोई नक्शा बनाता है, कोई सामान जुटाता है और कोई उस सामान का उपभोग करता है । पर यह अज्ञानहारी इकली ही सब का भार सँभाले जीवन में चल रही है !

मनुष्य समझता है वह बुद्धि का भण्डार है, पर इस छोटे-से प्राणी में कितनी चेतना है । कैसे सोचती है यह सब बातें ? क्या इस के मन में भी मानव के संस्कार हैं ? किसी दिन धूप और वर्षा में झुकझोर हो, इस ने चाहा कि एक मेरा भी घर हो, और फिर उस घर बनाने के साधनों पर विचार किया, उन्हें जुटाया और आप जुटी ।

मैं सोच रही थी, वह काम कर रही थी । इतने में वह जाने कितनी बार आई, गई । वह जाती, कहीं से ज़रा-सा गारा अपने मुँह में लिये आती, घर पर बैठती और चारों ओर देखती कि कहाँ नीचा है, वहीं उसे लगाती और फिर देखती कि ठीक लग गया है या नहीं ?

अब घर तैयार हो गया । वह उस के मुँह पर आ कर बैठी, धीरे से अपना डङ्क उस ने उस के भीतर डाला और अत्यन्त सावधानी से उसे चारों ओर भीतर घुमा कर देखा कि कहीं ऊँच-नीच तो नहीं है । उस की सतता इतनी सूक्ष्म थी कि जैसे गुप्तचर शत्रु के 'वार-रेकॉर्ड-ऑफिस' में घुस कर टोह ले रहा हो !

मैं उस की सतर्कता पर विचार कर ही रही थी कि वह एक लम्बा-सा हरा कीड़ा मुँह और पैरों में दबाये चली आ रही है। धीरे-धीरे उसे उस ने अपने मकान में पहुँचा दिया, इतनी सफ़ाई से कि दरवाजे के छोटे से छेद की दीवारें कहीं भी उसे छू न गईं।

मैं हँस पड़ी—अच्छा, यह आप का टोस्ट है ?

थोड़ी ही देर में वह फिर गारे की एक फुटकी लिये आई और उस छेद पर बैठ गई। अब यह क्या कर रही है ? मैं जान न सकी और ज्यों ही वह उड़ी कि मैं उठी। देखा वह दरवाजा बन्द कर रही है।

अरे, वह कीड़ा न था, इस का अण्डा था ! पर वह बच्चा कब बन जायेगा ? और जब बन जायेगा, तो यह दरवाजा फोड़ कर उसे उड़ा ले जायेगी, पर तब तक यह खुद कहाँ रहेगी ? इसे कैसे पता है कि इतने दिन में बच्चा बनता है ? मालूम भी है, तो उतने दिन यह किस पञ्चांग से गिनेगी ? हमारे कमरे से तो एक दिन के लिये भी कैलेण्डर गुम हो जाये तो सौ बार तारीख पूछनी पड़े। दीवार का कैलेण्डर अलग है, टेबिल का अलग, पर यह स्मृति के सहारे ही उतने दिन पार कर लेगी ? इस के पास समय की बहती धार को नापने का पैमाना क्या है ? मनुष्य जिन जीवों को अपने सामने कुछ भी नहीं समझता, कितनी ही बातों में वे उस से कितने आगे हैं ?

छत्तीस

यही सोचते २ मैं सो गई, पर स्वप्न में भी मुझे दीखा कि अञ्जनहारी अपना अण्डा पैरों में दबाये उड़ी आ रही है।

३

“अरे, अब क्या कर रही है तू ?”

दूसरे दिन भोजन कर के जब फिर मैं पलङ्ग पर आई, तो देखा अञ्जनहारी एक नया घर, पहले घर से मिला कर बना रही है। मुँह से अचानक निकल पड़ा “अरे, अब क्या कर रही है तू ?” पर उसे किसी की बात सुनने का अवकाश न था, वह अपने काम में जुटी रही।

दो दिन में वह घर भी बन कर तैयार हो गया और तीसरे दिन उस में भी उस ने वैसा ही अण्डा रख कर, उस का मुँह बन्द कर दिया। कहाँ से लाती है यह अण्डे ? मैंने कोठी की छत पर चढ़ कर देखा, वह किधर जाती है, पर कुछ पता न चला। हाँ, यह पता चल गया कि गारा वह मेरे बाग के गड्ढे से लाती है। वहाँ जाकर मैंने देखा, गड्ढे का गारा सूखा-सा है, पर अञ्जनहारी छाँट कर, भीतर से मुलायम लाती है। कितनी चतुर है यह अञ्जनहारी ?

लगभग पन्द्रह दिन में अथक परिश्रम कर के उस ने ६ घर बनाये और उन में ६ अण्डे बन्द किये। मैं उस के

सैंतीस

बारे में अब इतनी उत्सुक थी कि सब कुछ जानना चाहती थी, पर बेचैन थी कि जान न सकी ।

अब उस ने सातवाँ घर बनाया और मैंने देखा कि वह उस पर 'फ़िनिशिङ्ग-टच' कर रही है, तो क्या और अण्डा लावेगी ? कितने अण्डे देती है यह अञ्जनहारी ? यह खुद कहाँ रहती है ? इस ने यह अण्डे कहीं दे रखे हैं या दे रही है ? पर अण्डे देने का कोई समय नियत है या जब मकान तैयार हो जाता है और यह चाहती है, तभी अण्डा दे देती है । हे भगवान ! जीव और माया के इन्द्रजाल से भी बढ़ कर है यह अञ्जनहारी का इन्द्रजाल !

“आज चाय-वाय मिलेगी या अञ्जनहारी फ़िल्म ही चलता रहेगा ?” मैंने चौंक कर देखा लाला जी खड़े मुस्करा रहे हैं । आश्चर्य से मैंने देखा, चार बज गए । लाला जी का स्वभाव ऐसा है कि मेरी खुशी में अपनी खुशी समझते हैं । वे तीन बजे चाय पीते हैं, पर उन्हें पता है कि आज-कल मैं अञ्जनहारी में उलझी हूँ, चार बजे तक भी चाय ऑफिस में न पहुँची तो उठ कर आये, पर नाराज होना तो जैसे उन्हें आता ही नहीं । मुझे अपनी लापरवाही पर खेद हुआ और जल्दी से मैं उठी, पर वाकई मेरे रोम-रोम में आज अञ्जनहारी रमी थी, उसी में डूबे हुए मैंने कहा—

अढ़तीस

“लाला जी ! यह अञ्जनहारी तो एक पूरी पुस्तक है और पुस्तक क्या एक पूरी दुनिया है ।” हंस कर बोले—
“पुस्तक, दुनिया और ब्रह्माण्ड तो मुझे पता नहीं, पर हमारी कहानी-लेखिका जी के लिये एक मजेदार सॉट जरूर मालूम होता है ।”

चाय पीकर मैं फिर पलङ्ग पर आ गई । गरमी लग रही थी, मैंने पंखा खोल दिया और लेट गई । पंखे की धूँ-धूँ में एक और धूँ-धूँ आ मिली । मैंने दम साध कर देखा, अञ्जनहारी वही हरा अण्डा पैरों में उलभाये चली आ रही है, पर कमरे में आते ही आज उसे उस वातावरण का सामना पड़ा, जैसे जहाज को टारपीडो की टक्कर का या नाव को भौर का करना पड़ता है ।

अञ्जनहारी ओवरलोडेड और बिजली के तेज पंखे की हवा से भरा कमरा । उसे ऊपर से नीचे आना था, पर नीचे से हवा का भोंका उसे ऊपर फेंकता था । अञ्जनहारी के पंखों पर उस के अण्डे का बोझ तुल रहा था और अण्डे देने की कमजोरी का असर भी सम्भवतः उस पर होगा ही, आखिर वह जश्ना थी ।

जी में आया, पङ्खा बन्द कर दूँ और वह आसानी से अपने घर में उतर आये, पर जवानी कौतुक के प्रति सदा उत्सुक रही है । देखूँ तो इस वातावरण को, अच्छे तैराक की तरह धार को चीर कर यह कैसे उतरती है ।

अञ्जनहारी हवा से ऊपर चारों ओर उड़ रही थी। अपने को पूरी तरह साध कर धीरे से वह हवा के उस चक्कर में उतरी। हवा ने उसे घुमा दिया, पर अपने पंखों पर खेल कर वह अपने को सँभाले रही।

शाबाश ! मेरे मुँह से निकल गया और अब वह भूमती-सी, सँभलती-सी, मचलती-सी पंखे की बराबरी में आ गई—ठीक पंखे की बराबरी में। पंखे ने एक बार घुर-घुर की और अञ्जनहारी ने घूं-घूं, जैसे जर्मनी और इङ्गलैण्ड के दो बौम्बर टक्कर लेने की तैयारी कर रहे हों।

पंखे ने अपने जौहर दिखाये और हवा का एक भोंका पूरे जोर से उसे दिया। अञ्जनहारी सँभली, उस ने अपने पंख तौले, पर सँभल न सकी, घूम गई। अब उस ने पंखे के साथ और शायद उसी की रफ़ार में एक चक्कर लिया।

“वाह, उड़नखटोलने का मज़ा आ रहा है आपको” मैंने कहा, पर तुरन्त मुझे लगा कि इस तेज़ी में अञ्जनहारी अपनी होश खो रही है। अब वह अपने पंखों की रफ़ार से जाने कितनी तेज़ थी। बैलगाड़ी रेल के पीछे कोई बाँध दे तो क्या होगा ?

मैं उठी कि पंखा बन्द कर दूँ और वह नीचे उतरे कि खट ! चौंक कर मैंने ऊपर देखा, पर अञ्जनहारी दिखाई न दी। पंखा बन्द हो गया, पर अञ्जनहारी कहाँ है ? आँखें चालीस

नीचे झुकीं । उफ, हरा अण्डा और अञ्जनहारी कटे पड़े थे । उस के दो टुकड़ों को जोड़ कर मैंने अपने हाथ पर रख लिया, पर यह शव के प्रति मेरे प्यार का प्रदर्शन था ।

जीवन में अनेक बार मुझे जञ्जा और बञ्जा को एक साथ मरे देखने का अवसर मिला था, पर मेरे मन में वेदना की इतनी फुहारें कभी न पड़ी थीं, क्यों ? यह मैं नहीं जानती ।

४

“हाँ, तो लाहौर से आज कितनी स्यापे वाली बुला दूँ ?”

लाला जी ने मञ्जाक करते हुए शाम को पूछा । उन्हें शायद प्रबोध ने कह दिया था कि मैं आज अञ्जनहारी को हाथ पर रखे रोती रही ।

अपने भारी दिल को सँभालते हुए मैंने कहा—“कैसी बात कर रहे हो ? मेरे भरे पूरे घर में कम्बल स्यापे वाली क्यों आवें ?”

“आखिर आप की अञ्जनहारी जब मर गई है तो उस की आत्म-शान्ति के लिये लाहौरी स्यापे का समवेदना-सन्देश क्यों न ब्राडकास्ट हो ?”

सब हँस पड़े और मेरी मुस्कान भी बिखर पड़ी ।

“लाला जी ! कितनी बड़ी दुर्घटना हुई यह कि बिचारी ने एक दुनिया बसाई और वह उस का तमाशा देखने से पहिले ही चल बसी । मरते-मरते भी उसे अपने बच्चों का ध्यान रहा होगा ।”

“मेरी राय यह है कि मैं आज एक प्रेस कान्फ्रेंस बुला दूँ और आप उस में इस दुर्घटना पर एक वक्तव्य दे दें ।”

लाला जी सहृदय आदमी हैं, पर वे मेरी भावुकता से परिचित हैं । वे चाहते थे कि मैं हँस पड़ूँ और मेरा दुःख-भार हल्का हो ।

दूसरे दिन जब भोजन कर के मैं अपने पलङ्ग पर लेटी तो कमरे का वातावरण मुझे सूना सूना लगा; जैसे देखने को वहाँ अब कुछ न था । कमरा गरम हो रहा था, पर स्विच दवाने को मेरा जी न चाहा, उस से मेरा मन जला हुआ था ।

पंखे से हट कर मेरा ध्यान अञ्जनहारी के घर की ओर चला गया । छः घर ज्यों के त्यों बन्द थे और सातवें घर का मुँह खुला था । मुझे ऐसा लगा कि कोई दुष्ट डाकू किसी यात्री की जीभ काट डाले, वह दूसरे यात्रियों को सहायता के लिये पुकारना चाह कर भी पुकार न सके और वेदना से कराह कर सिर्फ मुँह खोले खड़ा रह जाय ।

गोल गुम्बद-सा घर और चीनी कटोरे की तली सा रवेदार उस का द्वार, दोनों शून्य भाव से जैसे आतुर हो अञ्जनहारी की प्रतीक्षा कर रहे थे । यह प्रतीक्षा इतनी आतुर क्रन्दन से परिपूर्ण थी कि मैं छोटा-सा शरीर धारण कर सकती तो निश्चय ही मक्खी बन कर उस घर में बैठ जाती । मैं पलङ्ग से उठ कर घर के पास आ खड़ी हुई ।

छः घर बन्द थे और एक खुला, खुले घरसे मेरा ध्यान हट कर उन बन्द घरों की ओर चला गया । इन में हरे-हरे कोमल दः अण्डे हैं । तुरन्त मन में एक प्रश्न उठ चला—ये अण्डे कब बच्चे बनेंगे ? पुरवैया बवण्डर में बिजली कौद गई और मुझे रोमाञ्च हो आया—वे बच्चे इस बन्दी-गृह से निकलेंगे कैसे ? अञ्जनहारी होती तो वह धीरे से समय पर 'मुँह का परत' उतार देती और अपनों को सहारा और चुग्गा दे कर उड़ा ले जाती, पर अब तो दरवाजा बन्द है । तो क्या ये यों ही घुट कर मर जायेंगे ? एक दम छः नन्हें-नन्हें प्राण !

मुझे अपने जीवन की एक और दुर्घटना याद हो आई । क्वेटा में जब वह भूकम्प आया, मैं वहीं थी । मैं अपने कमरे में पड़ी सो रही थी और मेरी बहिन की छोटी लड़की रमा भी मेरे पास थी । अचानक दुनिया हिली और तमाम कमरा सिमट कर मुझ पर आ गिरा । घड़बड़ाहट में दिमाग की चेतना-शक्ति जैसे सो गई । घण्टों बाद मैं

तैंतालीस

समझ सकी कि क्या हुआ यह ? मैंने हाथ पैर फैलाये, छत का गाटर एक दीवार पर तिरछा टिका था और उस के नीचे वह ज़रा-सी जगह बची थी, जहाँ मैं हूँ। मेरे पास ही पड़ी रमा सिसक रही थी। दिखाई तो कुछ देता ही न था। अन्दाज़ से उठा कर मैंने उसे छाती से लगा लिया। उस ने पानी माँगा अब मैंने ठीक-ठीक अपनी स्थिति समझी और बाहर से भीतर तक मैं सन्न हो गई। मौत मुँह बाएँ सामने खड़ी थी—कोई रास्ता न था। मुन्नी पानी माँग रही थी और मेरी आँखों से पानी बरस रहा था। न जाने कब तक वह तड़पी और फिर धीरे-धीरे शिथिल होने लगी। उसका शरीर ठण्डा होने लगा। मैं गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाई, पर आवाज़ वहीं गूँज कर रह गई।

तीसरे दिन मुझे कुछ लोगों ने मलबा हटा कर निकाला, पर मुन्नी के जीवन की ज्योति उस अन्धकार में लीन हो चुकी थी। रमा की वह तड़पन, चिल्लाहट और बाद का मुरझाया हुआ चेहरा मेरी आँखों में घूम गया। मेरा रोम-रोम सिहरन से भर गया। क्या यह छहों नन्हें भी रमा की तरह घुट कर मर जायेंगे ?

तो मैं क्या करूँ ? मेरे हाथ कुछ करने को बेचैन हो उठे और मैं अपना नेहरना उठा लाई। मैंने चाहा कि घर के मुँह पर जो हल्की-सी परत है, वह धीरे से उतार दूँ और टार्च से भीतर भाँकू कि इतने में मेरी नौकरानी आगई।

चौवालीस

“क्या कर रही हो बहूजी !”

“हीरा ! इन में बच्चे बन्द हैं और इनकी माँ मर गई । मैं उस का मुँह फोड़ कर उनके निकलने की जगह कर दूँ ?”

“ना बहूजी, आप को क्या पता कि अण्डा कब पकेगा ? कच्चे अण्डे में ज़रा भी हवा लग गई, तो बस फिर उस में जी ही न पड़ेगा !”

मैंने नेहरना रख दिया, पर यह कैसे पता चले कि अण्डा कब पकेगा ? अपने बाग़ के माली से मैंने पूछा पर वह भी न जानता था । एक शहद बेचने वाला आगया । उस से भी पूछा और वह भी गुम । मैंने अपना ड्राइवर भेज कर एक अण्डा बेचने वाले को बुलाया और उस से भी इस बारे में पूछा । बहुत देर में तो वह मेरी बात ही समझा । तब कुछ सोच कर बोला—“मरेंगे तो मर जाने दो, आप को इतनी परेशानी क्यों है बहूजी ?” जिस ने जीवन में हजारों अण्डों का खुद नाश्ता कर लिया और लाखों बेच डाले, उसे मैं अपनी बेचैनी का अर्थ कैसे समझाती ?

५

“माली ! चार-पाँच अञ्जनहारियाँ पकड़ कर ला । उन के पंख मत तोड़ना । मैं तुम्हे इनाम दूँगी !”

पैंतालीस

न जाने वह कैसे तीन अञ्जनहारी पकड़ लाया । मैंने कमरे के तमाम झरोखे बन्द करके, बिजली जलाई और उन्हें कमरे में छोड़ दिया । अपने पलङ्ग पर, साँस रोके, चुपचाप, बिना हिले-डुले, मैं उन्हें देखती रही । न जाने कितने चक्कर उन्होंने काटे, पर वह घर जैसे उन्हें दिखाई ही नहीं देता था । उन्हें असल में अपने बाहर निकलने की धुन थी ।

मैं कैसे अपनी बात इन्हें समझाऊँ ? वही युग अच्छा था, जब पशु-पक्षी भी मनुष्य की बात समझ लिया करते थे । काश ! एक पल के लिये वह युग लौट आए और इन अञ्जनहारियों से मैं अपनी बात कह पाऊँ ? मैंने अपने माली को फिर बुलाया । उस ने एक अञ्जनहारी पकड़ कर उन बन्द घरों पर टिकादी, पर यह तो एक बारी को डरा कर राजभक्त बनाना था । मैंने दुःखी होकर झरोखे खोल दिये, और वे उड़ गई ।

अब मैं क्या करूँ ?

दूसरे दिन मैंने अपने माली को बुला कर कहा कि दो-तीन दिन में वह मुझे बताये कि इस तरह के घर कहाँ-कहाँ लगे हैं ? तीसरे दिन उसने मुझे आठ घरोंकी सूचना दी । मैं उन में से तीन खुद जा कर देख आई और मैंने माली से कहा कि वह देखता रहे कि इन पर कब-कब अञ्जनहारी आती है और क्या करती है ? वह मुझे शायद छयालीस

भक्की समझ रहा था, पर मेरा नौकर था। रोज बेचारा सब घरों पर चक्कर काट आता।

“बहूजी, किसी घर पर भी अज्ञानहारी नहीं आती !”

तीन दिन के बाद यह उस की रिपोर्ट थी।

“तुम देखते रहो ! कभी तो उन अण्डों के बच्चे बनेंगे और उन की माँ आँगी ?” यह मेरे इरादों की घोषणा थी। पर माली की एक बात ने मेरे हौसले ठण्डे कर दिये।

“सब घर एक साथ ही थोड़ा बने हैं कि सब के बच्चे एक साथ निकलेंगे ! जब उन घरों के बच्चे पूरे हों तो क्या पता, तब तक इन घरों के बच्चे घुट कर मर भी जाएँ !”

फिर ये छः प्राण कैसे बचें ? मुझे कौन बताये कि वे बिचारे भीतर पल रहे हैं या मर गये ! बीसवीं सदी का मनुष्य बड़ा ज्ञानी है। जल, थल, नभ में उस का भण्डा लहरा रहा है, सभी यह कहते हैं। पर क्या खाक ज्ञानी है, जब उसे अज्ञानहारी के बारे में ही कुछ ज्ञान नहीं है !

मुमकिन है, इस पर किसी पुस्तक में कुछ सूचना हो। मैंने बड़े-बड़े प्रकाशकों के सूचीपत्र मँगा देखे। जीव-जन्तुओं पर १०-१२ पुस्तकों के नाम थे। मैंने सब को वी० पी० से भेजने के लिये लिख दिया है, पर लाला जी कह रहे थे कहीं कुछ न मिलेगा, तुम यों ही परेशान हो रही हो। फिर भी पुस्तकें तो पढ़ूंगी ही।

घर में जो आता है उसी से पूछती हूँ, पर कोई कुछ नहीं जानता । कभी-कभी लाला जी भुल्ला पड़ते हैं—
“हर समय वही पागलपन !” पर मैं क्या करूँ ? मेरे दिमाग में तो रात-दिन ये बच्चे उलझे रहते हैं और आँखों में घूमता रहता है रमा का वह मुरझाया हुआ चेहरा । शायद किसी पुस्तक में कुछ मिल जाये, पर पुस्तकें जाने कब आएँगी ? तब तक उन विचारों का क्या होगा ? कौन जाने, वे पल रहे हैं या मर गये ?

वह भीख माँगती आई !

“मैं कहाँ रहूँ, मैं कहाँ बसूँ ,
 न ये मुझ से खुश, न वो मुझ से खुश !
 न किसी की आँख का नूर हूँ ,
 न किसी के दिल का करार हूँ ॥”

जीना भूमता, गाता चला आ रहा था । वह वायलिन का मास्टर है और रोज़ नई चीज़ें सुनाता है । पता नहीं उसे ऐसी-ऐसी चीज़ें मिल कहाँ से जाती हैं ।

“ओह ! मेरी ललिता भी यह गज़ल अक्सर वायलिन पर गाया करती थी । कम्बख्त के गले में कुछ ऐसा दर्द था कि सुन कर दिल भर आता । उस की भी आँखें बरस पड़तीं । पता नहीं अब कहाँ होगी ?”

“कौन है वह ललिता, भाभी जी ! उस का वायलिन हमें भी सुनवा दो । मुमकिन है वह हमारे वायलिन पर रीझ कर हम से निकाह पढ़ने को तैयार होजाए !”

“उँह ! मुँह धोलो पहले, निकाह क्या करोगे ? उस के चप्पलों पर पालिश करने का ही अधिकार मिल जाए तो लाहौर के रईसजादों से तुम्हारी किस्मत अच्छी समझी जाए !”

“हूँ ! ऐसी हैं ललिता देवी ?”

“हैं का तो पता नहीं, पर थीं ऐसी ही । बेचारी को रोटियों का भी सहारा न था, जब वह मेरे पास आई ।”

“अच्छा, उसे रोटियों का सहारा भी न था और उस के पीछे पागल फिरते थे, लाहौर के रईसजादे ?”

जीना एक चञ्चल युवक है, कहानियों का शौकीन । ललिता का इतिहास सुनने को मचल पड़ा ।

*

*

*

पिता जी को मरे तब कुछ ही दिन हुए थे और स्टेट का सारा काम भाई महावीर के हाथों में था । मैं भी उस के आग्रह पर कुछ दिन के लिये लाहौर आई हुई थी । भाई को खाने-पीने का बहुत शौक था, इस लिये मिसरानी के साथ मुझे भी रोज़ चूल्हे पर सिकना पड़ता था ।

बावन

उस दिन कोई १२ बजे होंगे । मैं चूल्हे से उठ कर अभी आई थी और पसीने-पसीने हो रही थी कि एक भिखारिन युवती आकर बरामदे में खड़ी हो गई ।

“बीबी जी ! मुझे बहुत भूख लगी है । दो दिन से मैंने कुछ नहीं खाया । आपकी बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे भोजन करा दें ।”

उस की भाषा और कहने का ढङ्ग देख कर मैं चौंक पड़ी, पर गरमी से दिमाग भल्लाया हुआ था । रुखाई के साथ मैंने कहा—

“अरे, पढ़ी-लिखी मालूम होती है तू तो ! भीख माँगती फिरती है, कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेती ?”

“बिगड़े समय का कौन साथी है बहिन ? कभी हमारे ही यहाँ नौकर रहा करते थे, आज कोई बात नहीं पूछता । तुम्हीं रख लो बहिन !

कोई वेतन नहीं माँगती, बढ़िया कपड़े नहीं माँगती, सिर्फ दो रोटियाँ चाहती हूँ । तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ बहिन ! मुझे अपने पास रख लो, तुम्हारी बड़ी सेवा करूँगी !”

मैंने भीतर से माँ को बुलाया ।

“माँ, तुम इस छोकरी को रख लो । यह बेहद गरीब है, अच्छे दिन देख चुकी है, होशियार है, मैं चार दिन में चली जाऊँगी, तुम्हें इस की मदद मिलेगी और इस के भी दिन कट जायेंगे !”

तिरेपन

जब वह बाथरूम में नहा कर, मेरी साड़ी पहने बरामदे में आई, तो मुझे वह एक राजकुमारी-सी लगी, पर उस की आँखों में इतना शील और चेहरे पर बेकस गरीबी थी कि मेरा दिल भर आया ।

दोपहर में उस ने माँ के पैर दबाये और शाम को खाना बनाया । खाना इतना उम्दा कि सब ने तारीफ की और चूल्हे पर वह इस तरह तिरछी बैठी कि कोई उस का मुँह न देख सके ।

भारत का बुढ़ापा शील-सदाचार का समर्थक है । माँ को उस का यह ढङ्ग बहुत पसन्द आया और पहले ही दिन वह माँ के लिये अपनी बेटी हो गई ।

दूसरे दिन सुबह जब हम उठे तो ललिता दो कमरे ठीक कर चुकी थी । इधर की मेज़ उधर, उधर की इधर, वह तस्वीर यहाँ, वह वहाँ । कमरे नये-से चमक रहे थे ।

रसोई में आज उस ने नई-नई चीजें बनाई । दोपहर में फिर उस ने अम्माँ की सेवा की और शाम को वह जब नन्हीं को अँग्रेजी पढ़ाने बैठ गई तो हम सभी को आश्चर्य हुआ ।

इस तरह ललिता तीन ही दिन में, माँ के लिये रसोइया, प्राइवेट सेक्रेटरी, अध्यापिका और न जाने क्या-क्या बन गई ।

चौबन

उस दिन जब माँ ने कहा—“ललिता बेटा ! अब मैंने तेरे सारे गुण देख लिये । अब तू अपना वेतन तै करले” तो ललिता माँ के पैरों से लिपट कर रो पड़ी ।

“माँ ! मैं भीख माँगती यहाँ आई थी और अब रानियों की तरह रह रही हूँ । माँ, अगर तुम मुझ से इस तरह की बातें करोगी तो मैं अपनी भोली उठा कर चल दूँगी ।”

माँ का दिल लोट-पोट हो गया और उस ने ललिता को छाती से लगा लिया ।

“बहिन जी ! तुम्हारे हाथ-पैर दबा दूँ ?”

ललिता माँ के पैर दबा कर उठी थी कि मुझे आ लिपटी । काम करने की उसे धुन थी, थकान जैसे उस के शरीर को होता ही न था । मैंने उसे मना किया—
“मैं क्या बुढ़िया हूँ जो हाथ-पैर दबवाऊँ ?”

पर वह लिपटी जा रही थी । पीछा छुड़ाने को मैंने कहा—“अच्छा, हाथ-पैर नहीं दबवाती, गाना सुना ।”

“क्या सुनाऊँ ? पक्का गाना आप को पसन्द है ?”

“अच्छा, पक्का गाना भी जानती है, पर बजाना भी जानती है कुछ ?”

ललिता का गला भर आया। नीची गरदन कर के, मेरी चादर का शल निकालते हुए ललिता ने कहा—“अब तो कुछ भी नहीं जानती बीबी जी ! पर कभी सब कुछ जानती थी।”

और व्यथा का भार न सँभाल कर, वह मेरे पैरों के पास लुढ़क गई। मेरा भी दिल भर आया और मैंने उसे अपनी तरफ खींच कर धोती से उस के आँसू पोंछ दिये।

पलङ्ग से उठ कर मैं भैया का वायलिन उठा लाई। ललिता वायलिन हाथ में लिये कई मिनिट गुमसुम बैठी उसे देखती रही; जैसे अपने अतीत की एक भाँकी ले रही हो।

मेरा मन ललिता के उर में उमड़ी आँधी में भकभोर हो उठा, पर जब उस ने अपने सधे हुए हाथ से पहली ही बार ‘बो’ वायलिन के तारों पर फेरा, तो मुझे रोमाञ्च हो आया। ऐसा वायलिन तो वाकई महावीर भी न बजाता था।

“गा भी तो कुछ, बजाने में तो महावीर से भी ज्यादा होशियार है।” खुश होकर अम्माँ ने कहा।

मीरा के जीवन की सूनी पड़ी रे, सितार !

कितनी गहरी नींद में सो गई तारों की झङ्कार !

मीरा का पद ललिता की स्वर-लहरी के साथ मिला कर जैसे सारी दिशाओं में गूँझ उठा। जब उस ने वायलिन हाथ से रक्खा तो मैंने देखा कि भाई महावीर पर्दे के पीछे खड़े, नशीली आँखों से ललिता को देख रहे हैं। ललिता ने भी एक बार उधर देखा और नीची आँखें कर लीं।

भैया रसिक स्वभाव के आदमी थे। अब वे ललिता के साथ बातचीत करने को बेचैन थे, पर एक तो मेरा पहरा था, दूसरे ललिता में कहीं चञ्चलता न थी। बेचारे लाचार थे।

३

“ललिता ! तेरे घर में और कोई नहीं है ? तेरा मकान कहाँ है बेटी ?” एक दिन पैर दबवाते हुए माँ ने पूछा। ललिता फिर रो पड़ी।

आँखें पोंछ कर उस ने कहा—“माँ ! मेरे पिता कराँची में कागज का बिजनेस करते थे। वे बहुत ऊँचे विचारों के आदमी थे। उन्होंने विलायत की पढ़ाई के लिये पन्द्रह हजार रुपये नक़द देकर एक होनहार युवक के साथ मेरा विवाह किया था। मेरे विवाह के कुछ ही दिन बाद पिताजी के साथ एक ज़बर्दस्त विश्वासघात हो

गया । उन का सारा व्यापार चौपट हो गया और एक दिन उन्होंने आत्म-हत्या कर ली । जो कुछ बचा था वह सब कर्जर्खा ले गये । न जाने कैसा कर्ज था ? इसी रज्ज में घुल-घुल कर मेरी माँ भी मर गई ।

विलायत में उन बाबू साहब ने एक मेम साहब के साथ शादी कर ली और खर्चों के भार से बचने के लिये मुझे कत्ल कराने की कोशिश की । तब मैं अपनी जान ले कर भागी और जाने कहाँ-कहाँ के धक्के खा कर यहाँ आ पहुँची । मैंने पहले जन्म में कुछ पुण्य किये थे, जो मुझे आप के दर्शन हो गये । और वह फिर रो पड़ी ।

अब ललिता काफ़ी निखर गई थी । रूप उस पर जैसे स्वर्ग से टूट पड़ा था । अब उस में वह दीनता न थी । उस की आँखों में नशा और पिण्डलियों में थिरकन थी, पर उस के स्वभाव में शील और सेवा भाव की जो विभूति थी, वह पहले से भी बढ़ गई थी, इस लिये माँ और घर के दूसरे आदमियों के दिल में तो जैसे उस ने घर कर लिया था ।

सिर्फ़ कभी-कभी मेरे मन में सन्देह की एक छाया कहीं से आकर भाँक जाती । वह भी खास कर तब, जब वह भैया की ओर भारी पलकों से एकटक देखती और उस के रोम-रोम में जैसे एक नशा भर जाता ।

अट्टावन

एक दिन ललिता घर में न थी, मुझे सन्देह हुआ । मैंने देखा, वह भैया के ऑफिस में खड़ी, टेलीफोन पर बातें कर रही है । मुझे देख कर उस ने रिसीवर हाथ से रख दिया ।

“क्या कर रही थीं तुम यहाँ ऑफिस में ?”

झिड़की के स्वर में मैंने उसे घूरते हुए पूछा और साकार दीनता की मुद्रा में उस ने कहा—

“बीबी ! मैं फोन देख रही थी । मेरे पिता जी के दफ्तर में भी दो फोन थे !” और उस की पलकें भीग गई । मेरे मन पर भी आज एक गम्भीर चोट पड़ी—मैं खामखा बेचारी पर सन्देह करती हूँ ! उस ने अच्छे दिन देखे हैं । वह बड़े बाप की बेटी बन कर रही है । बुरे समय में भी अपने को कहाँ तक दबाये ?

उस दिन से ललिता को घर में पूरी स्वतन्त्रता मिल गई और वह हमारे परिवार की एक सदस्य ही होगई ।

अब वह अम्माँ के कमरों के साथ भैया के कमरों की भी देख-भाल करने लगी और उसे भैया से बातें करने का भी अवसर मिलने लगा । भैया को समय पर चाय देना, खाना खिलाना, पान देना और उन का बिस्तर ठीक करना, सब काम ललिता ने अपने हाथ में ले लिये और खूबी यह, इस से माँ की सेवा और घर का प्रबन्ध इन में कहीं भी उसने कमी न आने दी !

आज-कल ललिता घर भर की आँखों का तारा थी !

भैया के बड़े सेक्रेटरी बाबू रामनाथ सरकारी सर्विस में चले गये थे और उन की जगह एक अनुभवी आदमी की जरूरत थी। पिता जी की मृत्यु हुए, तब थोड़े ही दिन हुए थे और भैया कर्तई अल्हड़ थे !

माँ ने राजा सुरेशसिंह को पत्र लिखा कि स्टेट के लिये एक सेक्रेटरी चाहिए। आप अपना परखा हुआ कोई आदमी दें, क्यों कि ऐसा न हो कि भैया किसी गलत आदमी के चक्कर में पड़ जावें।

राजा साहब पिता जी के पुराने मित्र थे और उन की सौतेली माँ से मुकदमा लड़ कर जब से पिता जी ने राजपुर की रियासत भी उन्हें दिलादी थी, तब से राजा साहब उन्हें अपना भाई मानने लगे थे।

माँ का पत्र पाकर राजा साहब खुद आये और अपने विश्वसनीय मित्र और मन्त्री मि० बलवीरचन्द्र को यहाँ छोड़ गये। जाते-जाते भैया से बोले—“इन्हें तुम अपना नौकर नहीं भाई मानना और हर जगह इन का विश्वास करना।”

दूसरे दिन भैया ने मि० बलवीरचन्द्र को भोजन पर निमन्त्रित किया। ललिता आज सुबह से ही जुटी हुई थी। न जाने कितने शाक, रायते और चटनियाँ उस ने

तैयार कीं । ७ बजे के लगभग भैया मि० बलवीर के साथ भोजन के कमरे में आये । एक थाल नौकर को दे और दूसरा खुद ले ललिता हाज़िर हुई । आज उसे भैया से प्रशंसा का प्रमाण—पत्र पाने की पूरी उम्मीद थी ।

ललिता ने मद भरी आँखों से एक बार भैया की ओर देखा और भैया ने उसे । अचानक उसकी निगाह बलवीर बाबू पर पड़ी और थाल उस के हाथ से छूट गया । भन्न !

“बदमाश ! तू अब यहाँ भी आ पहुँची ?”

बलवीर बाबू की चिल्लाहट से कमरे का वातावरण काँप उठा । मैं और माँ दौड़ी हुई आई । ललिता की होश गुम, तमाम बदन में कपकपी और मुँह सफ़ेद ।

भर्राई—सी आवाज़ में माँ ने कहा—“यह क्या बात है भैया ! तुम उस बेचारी के सिर क्यों हो रहे हो ?”

बलवीर बाबू ने इधर कोई ध्यान नहीं दिया और भैया का हण्टर लिये वे ललिता के बिल्कुल पास आ गये । हम सब सन्नाटे में !

गरज कर उन्होंने पूछा—“बता तू यहाँ क्यों आई बदमाश ?”

ललिता की सारी मस्ती काफ़ूर । साकार दीनता—सी ललिता ने गिड़गिड़ा कर कहा—“आप तो जानते ही हैं । बस अब मैं चली जाऊँगी सरकार !”

“अच्छा बता, अभी तक क्या-क्या हाथ मारे हैं ?
सच-सच बता, नहीं तो तेरी जान निकाल दूँगा !”

“सच कहती हूँ सरकार ! कुछ भी नहीं । अभी तो
मैंने अपना काम शुरू ही किया था ।”

बलवीर बाबू ने भैया की ओर मुड़ कर कहा—“आप
इस बदमाश के चक्कर में कहाँ से पड़ गये ? इन लोगों
का एक गुट है और आप जैसों के सिर पर उल्लू बैठाना
ही इनका काम है ।

राजा सुरेशसिंह को इस ने एक ही भटके में चौबीस
हज़ार को चित कर दिया था । जाइये, आप की किस्मत
अच्छी थी; बच गये । इन बदमाशों के खाये तो पेड़
भी नहीं पनपे !”*

* १९-४-४२ को लखनऊ स्टेशन से ब्राडकास्ट ।

बासठ

जब घर में चोर था !

खट, खट, खट ! आवाज सुन कर मेरी आँखें खुल गईं । तभी-तभी मुहल्ले में कई चोरियाँ हो चुकी थीं और वातावरण आतङ्क से भरा था । मैंने लेटे-ही-लेटे चारों ओर की आहट ली ।

आधी रात की सूनी घड़ियाँ अपने में सिमटी-सी सो रही थीं । हवा सन्-सन् कर चल रही थी । वृक्षों की शाखाएँ झूम रही थीं और उन के मीठे स्वर सारे वातावरण में सङ्गीत की सृष्टि कर रहे थे; मुझे ऐसा लगा कि देश और बागेश्वरी राग परस्पर आँखमिचौनी खेल रहे हों ।

अन्धेरा इतना था कि पास ही पलङ्ग पर सोये अपने पति को भी मैं देख न सकती थी । उन का खर्राटा जरूर मुझे सुनाई दे रहा था । निश्चिन्त होकर मैंने करवट दूसरी ओर ले ली ।

खट, खट, खरड़ ! फिर वही आवाज़; मैं चौंक कर अपने पलङ्ग पर उठ बैठी । गोदाम के कमरे से यह आवाज़ आ रही थी । मैंने खिच दबाया और एक सेकेण्ड में सारा चौक बिजली के प्रकाश से भर गया ।

मैं उठ कर गोदाम के सामने आ गई । बाहर से किवाड़ों की साँकल लगी थी, पर भीतर जैसे कोई घूम रहा था । मैंने धीरे से आगे बढ़ कर अपने कान किवाड़ों से लगा दिये । भीतर चोर था । वह सम्भवतः शाम को आकर छिपा होगा और नौकर ने बाद में साँकल लगा दी ।

खूब फँसे बच्चा ! अब पीसो एक साल भर चक्की !! वह चोर था, मेरे यहाँ चोरी करने ही आया था । चोर के प्रति क्रोध स्वाभाविक है, पर उसकी बेबसी देख कर मेरा मन दया से भर गया । मैंने धीरे से साँकल खोली और किवाड़ पीछे की ओर उढ़का दिया, पर मैं सामने खड़ी थी । उस ने तुरन्त भीतर से किवाड़ फिर बन्द कर दिया । तीन-चार बार यों ही हुआ ।

शायद वह कोई परिचित था और उसे खतरा था कि निकलते समय पहचान न लिया जाऊँ । किवाड़ खोल कर मैं दरवाजे के सामने से हट गई, पर किवाड़ फिर बन्द हो गये । अब मुझे झुंझलाहट आ गई और मैंने फिर से साँकल लगा दी ।

“लाला जी ! कमरे में चोर है ।”

वे चौंक कर उठे, हड़बड़ाये-से । चोर का नाम ही बुरा है, फिर जब वह कमरे के अन्दर बैठा हो तो भूत से भी ज्यादा खतरनाक है । मैंने संक्षेप में उन्हें सारी कथा सुनाई ।

वे सँभल कर उठ बैठे और भीतर-ही-भीतर प्रोग्राम-सा बाँधने लगे ।

“मेरा रिवालवर लाना ज़रा भीतर से !” जैसे वे सब कुछ के लिये तैयार थे ।

अब लाला जी के हाथ में रिवालवर था और मेरे हाथ में टॉर्च । हम दोनों भीम-अर्जुन की तरह गोदाम के सामने डट गये । साँकल खोलने से पहले मैंने एक बार लाला जी की ओर देखा । उन की पिण्डलियाँ काँप रही थीं । बोले—“खोलो किवाड़ !”

मुझे ज़रा-सी मसखरी सूझी ।

मैंने कहा—“रिवालवर तो मुझे दे दो और साँकल तुम खोलो ।”

भर्राई-सी आवाज़ में बोले—“तुम कई बार तो खोल चुकी हो पहले ! खोलो न भट ! तुम्हें क्या पता, रिवालवर कैसे चलता है !”

मैंने साँकल खोली, किवाड़ पीछे को उढ़काया और टॉर्च की रोशनी कमरे में डाली। एक सेकेण्ड में किवाड़ फिर बन्द हो गये।

इस बार लाला जी आगे बढ़े और उन्होंने जोर से पैर का धक्का देकर किवाड़ खोल दिया।

“निकलता है बदमाश ! या यहाँ से मर कर ही निकलेगा।”

वे जोर से चिल्ला पड़े। किवाड़ जोर से धमक उठा और भीतर से कूद कर एक बिल्ली मेरे पास से निकल गई।

“ओह ! बिल्ली थी भीतर और चोर समझते रहे। आप को इतनी न सूझी कि चोर कमरे में कैसे घुस पड़ता ? आप भी आदमी क्या एक तमाशा हैं !”

“बेवकूफ़ तुम खुद हो और बता रही हो मुझे। पहले चोर तुम्हारे दिमाग में घुसा था या मेरे ?”

मैं जोर से हँस पड़ी, पर इसी समय किवाड़ फिर बन्द हो गये। हम दोनों ने एक दूसरे की तरफ़ देखा—
“चोर है तो भीतर ?”

लाला जी क्रोध से तिलमिला उठे। चौकीदार को बाहर से बुला कर उन्होंने रस्सी निकलवाई और मेरा टॉर्च अपने बायें हाथ में ले लिया।

अढ़सठ

वे उस दुष्ट को बाँधने का इरादा कर चुके थे । आगे बढ़ कर उन्होंने अपना दायाँ पैर पूरे जोर से किवाड़ पर मारा और बायाँ हाथ बढ़ा कर कमरे में लाइट भर दी ।

एक दम वह दरवाजे के सामने से हट गये और अपने पलङ्ग पर जा लेते । मैंने धीरे से उन के सिर पर हाथ फेर कर पूछा—

“क्या बात है ? कोई जान-पहिचान का आदमी है भीतर ?”

वे भरे बैठे थे । भुल्ला कर बोले—“बात है तुम्हारा सिर ! किवाड़ के पीछे नौकर ने बच्चागाड़ी खड़ी कर दी है । उस से टकरा कर किवाड़ बन्द हो जाता है । न वहाँ चोर है, न डाकू ! तुम ने खामखा का भूत बना कर खड़ा कर दिया है ।”

अब सारी स्थिति हमारे सामने थी और हम सब खिलखिला कर हँस रहे थे ।

हमारे घर में अब भी वह गाड़ी है और बच्चों ने उस का नाम चोरगाड़ी रख दिया है । जब कोई कभी उस के इस नामकरण का कारण पूछता है, तो सारा घर हँसी से भर जाता है ।

है न यही बात ?

“आज मियाँ लतीफ खुद तशरीफ लाये थे और मेरे लिये, अम्मीजान को यह तोहफा दे गये हैं।”

शबनम के हाथ में नीलम की अँगूठी चमक रही थी, वह उतार कर उस ने अपने प्यारे रहमत को दिखाई। रहमत का दिल बैठ गया और मरी-सी आबाज में उस ने कहा—“मुबारक प्यारी शबनम !”

शबनम जैसे साँप से बू गई। रहमत के गले में हाथ डाल कर उस ने कहा—“तुम क्या समझते हो रहमत कि तुम्हारी शबनम दौलत की झमक में भूम उठेगी और तुम्हें भूल कर मियाँ लतीफ पर रीझ जाएगी ? तुम्हें मेरे प्रेम पर शक करने का यह हक अभी तक की किस घटना ने दिया है, यह तो ज़रा बताओ।”

“नहीं शबनम, मैं तुम्हारे प्यार पर शक नहीं करता । पर इस ज़माने में दौलत का असर बहुत है और उसे दावा है कि वह इंसान की जान ही नहीं, उस का दिल भी खरीद सकती है । अच्छा, आज मियाँ लतीफ़ से क्या-क्या बातें हुई ?”

“मैं क्या मियाँ लतीफ़ की बलैयाँ लेने गई थी ? वे अम्माँ से बैठे बातें करते रहे और उन पर अपने धन की धाक जमाते रहे । बात यह है कि अच्चा उन्हें चाहते हैं और तुम से कुढ़ते हैं, पर अम्माँ तुम्हें चाहती हैं । क्यों कि उन्हें मालूम है कि मैं और किसी से साथ सुखी नहीं रह सकती । अब दोनों ने मिल कर अम्माँ पर डोरे डालने शुरू किये हैं !”

“और जो कहीं अम्माँ उधर ढल जायें ?”

“ऐसा नहीं हो सकता ! दुनिया में माँ बेटी के दिल को सब से ज्यादा जानती है ।”

“फिर भी शबनम, दौलत बुरी बला है !”

“हाँ रहमत इस ज़माने में दौलत बुरी बला है, पर प्यार उस से बड़ा है ।”

सहारनपुर के नये बाज़ार में रहमत की बिसातखाने की चलती दूकान थी । दूकान के इश्चार्ज उस के पिता हशमतखाँ थे, पर रहमत सब काम समझ गया था और दूकान के सब कामों की देख-भाल करता था । वे कोई

चौहत्तर

रईस तो न थे, पर उन्हें किसी बात की कमी न थी ।
अच्छा रोजगार था, चार भले आदमियों में इज्जत थी ।

शबनम के पिता जजी में पेशकार थे । खासी कमाई थी और बड़े ढङ्ग से रहते थे । बातचीत में तो कुछ ऐसी तमकनत थी और चेहरा-मोहरा भी भगवान ने ऐसा दिया था कि चूड़ियोंदार पाजामा और शेरवानी पहन कर जज साहब ही लगते थे । वे चाहते थे कि शबनम ऐसे घर व्याही जाए कि बिरादरी में उन की सीक खड़ी हो जाए ।

शबनम उन की इकलौती लड़की थी; रूप और शराफत का एक स्टैण्डर्ड ! उसे उन्होंने जी दे-देकर पाला था और खास हसरतों के मातहत मैट्रिक तक पढ़ाया था । बिरादरी के नौजवानों में शबनम की चर्चा थी और हरेक बाप उसे अपने बेटे की दुलहन बनाना चाहता था । रोज किसी न किसी का पैगाम पेशकार साहब के पास आता था ।

लतीफ शहर के रईस अतहरहुसैन का छोटा लड़का था । घर में लकड़ी का व्यापार होता था, शहर में जायदाद थी, चारों तरफ हवा बँध रही थी, वक्त साथ दे रहा था । लतीफ मनचला जवान था, उस ने अपनी माँ से कह दिया था कि वह या तो शबनम से शादी करेगा या फक्कीर हो जाएगा । पेशकार साहब लतीफ के बाप से बायदा कर चुके थे और लतीफ को दिल से चाहते थे ।

पिछत्तर

शबनम बचपन से रहमत के साथ-साथ खेती, बढ़ी और पढ़ी । बचपन का यह साथ कब घुल-मिल कर प्यार की रङ्गरेलियों में बदल गया, इसे दोनों में कोई भी न जान पाया । अब दोनों एक दूसरे के प्रति प्रतिज्ञात थे । अपने पिता की अप्रसन्नता से शबनम परिचित थी, पर उसे अपनी माता के आश्वासन का भरोसा था ।

२

“जब शबनम की मर्जी है और वे दोनों आपस में तै कर चुके हैं तो तुम्हें ही क्या ऐतराज है ? फिर रहमत सुन्दर है, तन्दुरुस्त है, कमाऊ है । लङ्गड़ा-लूला नहीं, कुछ आवारा नहीं ।”

शबनम की माँ ने रहमत की वकालत की, पर पेशकार साहब के मन में लतीफ की शान समाई हुई थी । गुर्ग कर बोले—“खामोश रहो ! मैं किसी बेवकूफ औरत का मशवरा नहीं चाहता ! शादी मेरी मर्जी से होगी और मैंने लतीफ से वायदा कर लिया है ।”

“पर तुम्हारी बेटी तो कहती है कि रहमत से शादी न हुई तो जहर खा लूँगी । जवान बेटी है, कोई गड़बड़ कर बैठी तो क्या होगा ?”

छियत्तर

“बेटी का दिमाग तो चार जेवर और रेशमी जोड़ों की झलक तीन दिन में ठीक कर देगी । पहले तुम अपना दिमाग ठीक करो !”

“मेरा दिमाग तो ठीक है । लतीफ मुझे क्या पसन्द नहीं है, जो मेरे सिर पर चढ़ रहे हो ? उस दिन वह आया, मैंने फौरन मिठाई मँगवाई और दस खातिरें कीं । मुझे क्या दीखता नहीं कि लड़की वहाँ बैठी राज करेगी ।”

“अब कही तुमने अकल की बात । प्रेम, मुहब्बत, ये सब बचपन की बातें हैं । लड़की जिस के घर जाएगी, उसे ही मुहब्बत करेगी । और अभी तक तुम रहमत की माला न फेरती तो शबनम कभी की लतीफ के गीत गाने लगती । आखिर रक्खा क्या है उस भुखने के पास कि लड़की उस पर जान दे !”

माँ की आँखों में अपनी प्यारी बेटी की एक सूरत घूम गई—जड़ाऊ जेवरों से जड़ी और रेशमी कपड़ों से लकड़क़ । एक ऊँची हवेली, आइनों और तस्वीरों से सजे कमरे, एक शानदार पलङ्ग पर बैठी उस की बेटी शबनम और इधर-उधर दौड़ती नौकरानियाँ ।

माँ का रोम-रोम खिल गया, पर उसी घड़ी उस की आँखों में आ गया प्यार और मुहब्बत का पुतला वह रहमत, जिस के रोम-रोम में उस की बेटी शबनम समाई हुई है । उस का क्या होगा ? और क्या शानोशौक़त का यह

अम्बार शबनम के भीतर कोने-कोने में खेलती उस प्यास को बुझा सकेगा, जिस में हर समय रहमत की धुन वसन्त की कोयल बन कर कूका करती है ?

माँ की आँखों में अपनी प्यारी बेटी शबनम की एक दूसरी सूरत घूम गई—सादा कपड़े और मामूली जेवरों से सजी, सुबह के आसमान-सी सरल और सुहावनी । वह और आगे बढ़ गई । एक मामूली इकमंजिला मकान, ओटे के पीछे बना चूल्हा और उस में लकड़ी भौंकती शबनम और इसी सिलसिले के दूसरे सीन, जैसे खुद उस की बीती जिन्दगी का एक सिनेमा हो !

माँ दो नावों पर पैर धरे चिन्ता की नदी में तैर चली । शुरू में दोनों पैरों पर उस का बराबर जोर था । लतीफ की शान एक लहर बन कर आती और उस के कलेजे का टुकड़ा-टुकड़ा फुरेरी ले उठता और रहमत की मुहब्बत दूसरी लहर बन कर आती और वह उसमें डूब-डूब जाती ।

उस ने बीसों बार शबनम और रहमत को प्यार से बातें करते देखा था, शराब के समुद्रों में डूबी वे चार आँखें माँ की आँखों में उतर आई और उस के भीतर खप्प से आ कर बैठ गई शबनम की वे आँखें, जो रातों नहीं झपटीं और तारों के भीतर जाने क्या खोजा करती हैं ।

उस ने आँखें बन्द कर लीं और जैसे सहसा उस के भीतर का सीन बदल गया । आज तो उसकी उम्र ढलाव अठत्तर

पर है, पर तब उस की चढ़ती उम्र थी—यही शबनम—सी १५-१६ साल की और उस के पड़ोस में ही रहता था रहमत—सा वह अल्लारक्खा। वे दोनों भी यों ही प्यार करते थे—दोनों ने ज़िन्दगी के बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे थे, वादे किये थे और जुदा होने पर दोनों ज़हर की पुड़िया खाने को तैयार थे। वाक़ई ऐसा मालूम होता था कि मिलन में कोई बाधा आई और प्रलय की ज्वालामुखी फटी। पर उस दिन बाजे बजे, धूम हुई और वह दुलहन बनी पेशकार साहब के घर चली आई।

यहाँ उस का मन उचटा-सा रहा, उस का दिल भर-भर आया और उस के भीतर खलबली-सी मची रही। एक दिन अल्लारक्खा चोरी-चोरी आया, दोनों खूब रोये, पर थोड़े ही दिन बाद अल्लारक्खे की शादी हो गई और मेरा भी दिल अपने घर में रम गया। फिर तो यह सब बीते दिनों के देखे मेले की याद-सा हो गया, मेरे लिये भी और अल्लारक्खे के लिये भी। बरसों बाद जब मैं मैके गई तो देखा, भावजें उसे जोरू का गुलाम कहा करती थीं।

उस के कानों में गूँज गया, शबनम के अब्बा का यह वाक्य—“प्रेम, मुहब्बत, ये सब बचपन की बातें हैं। लड़की जिस के घर जाएगी, उसे ही मुहब्बत करेगी !” और उस ने अपने दोनों पैर लतीफ़ की ही नाव पर रख लिये। उसे दीखा, रहमत की नाव मँझधार में गोते ले रही है, पर

उसे ध्यान आया—अल्लारक्खा आज अपनी जोरू का गुलाम है और उस के कान बोल उठे—“लड़की जिस के घर जाएगी, उसे ही मुहब्बत करेगी।”

३

“तुम दिल्ली की सैर करते रहे मियाँ रहमत, और तुम्हारी शबनम की शादी भी हो गई ! वो बाजे बजे और दावतें उड़ीं कि लुत्फ आ गया !”

अपनी दूकान का सामान ले कर दस दिन बाद जब देहली से रहमत लौटा तो चुटकियाँ लेते हुए उस की भावज ने कहा । रहमत के लिये यह एक मज़ाक थी, वैसे ही उस ने उत्तर दिया—“और बेचारी शबनम की शादी देख कर तुम जैसी बुढ़िया को भी रश्क हुआ । क्यों भाभी, है न यही बात ?”

“मुझे क्यों रश्क होगा । मेरे तो छः फीट का गुड्डा बालों में खिजाव लगाये घूमता है । रश्क होगा भैया तुम्हें जो सिर पर मौड़ बाँधने को पागल हुए फिरते थे, पर शबनम ने जिस की बात भी न पृछी।”

“जब मेरे सिर पर मौड़ बँधे और शबनम दुहलन बनी शर्माती डोले से उतरे तब तुम छींक देना और अपने गुड्डे को भी संघनी सुंघा देना !”

अस्सी

हँसता हुआ रहमत बाहर निकल गया, पर पाँच ही मिनट में जब वह लौटा तो उस का चेहरा फक्क हो रहा था । जब उस की दुनिया लुट चुकी थी और घर उस के लिये उजड़ा रेगिस्तान था !

माँ ने समझाया, बहिन-भावजों ने मित्रतेँ कीं, पर रहमत न हिला, न डुला, न रोया-भिन्नाया । वह खामोश अपने पलङ्ग पर पड़ा रहा । रात तक उसके शरीर की चेष्टाएँ कम होती गईं और सुबह होते-होते उस ने पलक झपकना बन्द कर दिया । सारा घर चिन्ता में डूब गया ।

डाक्टरों ने कहा—दिल और दिमाग दोनों खराब हालत में हैं । हार्टफेल हो सकता है और पागलपन भी मुमकिन है । दवाएँ चलती रहें, बिल बनते रहे, पर रहमत की न आँखें बन्द हुईं और न उसे होश आया ।

दसवें दिन रहमत ने आँखें बन्द करलीं और वह बड़बड़ाने लगा । दिल अब उस का ठीक था, पर दिमाग कतई खराब । डाक्टरों ने कह दिया—पागल !

अब रहमत अपने पलङ्ग पर सीधा तना बैठा रहता और हरेक चीज को बेहद गौर से देखता । वह किसी को पहचानता न था—हरेक के चेहरे पर वह आँखें गढ़ाता और पीछे हट जाता । कभी-कभी अपने कमरे में लगी तस्वीरों को यों ही घूरने लगता और जाने क्या-क्या कहता रहता ।

उस दिन शाम के झुटपुटे में जाने कब वह घर से निकल गया और सीधा शबनम के घर पहुँचा। शबनम की माँ ने उसे देखा और वह रो पड़ी। उस ने रहमत को बताया कि कैसे शबनम के बाप ने उस की इच्छा के विरुद्ध यह शादी की और वह निर्दोष है। रहमत आँख फाड़े उसे देखता रहा—उस ने न कुछ सुना, न समझा, बस वह देखता रहा।

अचानक वह उठा और ऊपर चढ़ गया, जहाँ चौबारे में अक्सर वह शबनम से प्रेम की बातें किया करता था। उस की चेतना लुप्त हो चुकी थी, पर भीतर संस्कार जागरूक था। एक-एक चीज़ को वह घूरने लगा। बाहर कोने में शबनम के बाप के कबूतरों की काबक रक्खी थी और उस के ऊपर बैठी थी सुनहरी। यह बड़ी उड़ाका कबूतरी थी और शबनम इसे बेहद प्यार किया करती थी। जाने कितनी बार शबनम और रहमत के बीच यह खेल चुकी थी और दोनों ने इसे सुना-सुना कर बातों के चटखारे लिये थे।

रहमत इस के सामने रुक गया और गौर से देखने लगा। सुनहरी उसे पहचान गई और लाड़ में बिखर पड़ी—घुटर घूं! घुटर घूं!!

रहमत का चेहरा खिल गया और प्यार में डूब कर उस ने कहा—शबनम ! सुनहरी उड़ कर ऊपर के ताक बयासी

में बैठ गई, जहाँ तोते का पुराना खाली पिंजरा रक्खा था। रहमत ने भट उसे पकड़ लिया और पिंजरे में बैठा कर तिल्ली लगा दी।

रहमत बुरे हाल हर समय वह पिंजरा लिये घूमता रहता है। सुनहरी को वह शबनम कहता है और यही समझता है। बार-बार उस से कहता है—“लतीफ कहता है, दौलत सब से बड़ी है और वह दिल भी खरीद सकती है, पर तुम कहती हो प्यार दौलत से भी बड़ा है। है न यही बात ?” और जोर से हँस पड़ता है।

उस दिन वह रेलवे रोड पर पेड़ के नीचे अपना पिंजरा लिये पड़ा था कि अपना बुरका ओढ़े शबनम आ पहुँची। शाम के अन्धेरे में अपना बुरका उलट कर वह रहमत के सामने बैठ गई।

“प्यारे रहमत ! मेरे गुनाहों की तुम्हें यह कीमत अदा करनी पड़ेगी, काश, पहले मैं यह जान पाती !”

और वह रो पड़ी। रहमत ने बहुत गौर से उसे देखा—“कौन हो तुम ?”

“रहमत ! तुम मुझे भूल गये ? मैं हूँ तुम्हारी शबनम !”

“तुम शबनम ? हा, हा, शबनम तो यह है !”

उस ने अपना पिंजरा ऊपर उठाया। सुनहरी ने शबनम को पहचान कर टेर दी—घुटर घूं ! और

तिरासी

रहमत ने अपना प्रश्न दोहराया—“लतीफ कहता है, दौलत सब से बड़ी है और वह दिल भी खरीद सकती है, पर तुम कहती हो, प्यार दौलत से भी बड़ा है । शबनम, है न यही बात ?”

सुनहरी ने आवाज़ दी—घुटर घूं ! और रहमत हँस पड़ा—हाँ, यही बात है !

वे तीन दिन

१

कहते हैं, कविता के साथ जब सङ्गीत का समन्वय होता है तो दोनों अजेय हो उठते हैं, पर जब सङ्गीत के साथ सौन्दर्य और उस के साथ तरुण शोखी आ मिलती है तब क्या होता है ? चञ्चल इस का जीता-जागता जवाब थी ।

जिस ने उसे एक बार देखा, उसका हो गया और जिस ने उस का गाना एक बार सुन लिया, उस के कानों में हमेशा के लिये उस की तान ने घर कर लिया । और शादी ! शादी में तब तक रौनक ही न समझी जाती थी कि जब तक उस में चञ्चल की महफिल न जमे । रास्ता चलते लोग उन दिनों चञ्चल का जिक्र किया करते थे ।

उस का सङ्गीत ही उस का व्यवसाय था और यह तब खूब चल रहा था । उस युग की यह बात है, जब लोगों के दिलों में उमँगें थीं और बटवे में पैसे । लोग खाते थे, खेलते थे और खुशियाँ मनाते थे । चञ्चल की एक-एक तान पर तब चाँदी बरसा करती थी ।

उस के रूप की शमा पर जलने वाले पतङ्गों की भी भीड़ लगी रहती थी, पर उस के लिये उन का उतना ही उपयोग था, जितना मुन्हे के लिये खिलौनों का । उस का जब जिस से जी चाहता, वह खेलती और जब जी भर जाता, उसे उठा कर दूसरी तरफ रख देती और जब ऊब जाती तो तोड़ भी डालती ।

उस के चारों ओर मँडराने वाले भौरे, उस के स्वभाव को जानते थे और इसी कारण वह जहाँ उन के आकर्षण का केन्द्र थी, वहाँ चारों ओर उस का आतंक भी था ।

“अजब औरत है, पता ही नहीं चलता कि कब क्या कह दे और यह पता लगाना खुदा के सिर पर मौड़ बाँधना है कि जनाबा को क्या पसन्द है और क्या ना पसन्द !” यह उसे नजदीक से देखने वालों का रिमार्क था और इस में चञ्चल के पूरे स्वभाव की तस्वीर जैसे सिमट कर बैठ गई थी ।

अठासी

सुन्दरसिंह सचमुच एक सुन्दर नौजवान था—बच्चों के दिल-सा अल्हड़ और शेर-सा मस्ताना । वह उन भावुक लोगों में न था जो एक ही फूल के सामने खड़े घण्टों स्वर्ग के स्वप्न सँजोया करते हैं । वह उन खिलाड़ियों में था जो फूल को देखते हैं, मन चाहे तो तोड़ कर सूँघ लेते हैं और फेंक देते हैं ।

वह रेल में माल बाबू था । तनख्वाह तो उस का जेब खर्च थी, ऊपर की आमदनी से, हर माह उस की पासबुक भारी होती रहती थी ।

बदल कर आते ही उस ने चञ्चल की चर्चा सुनी और दूसरे ही दिन वह उस के घर जा पहुँचा । चञ्चल ने उसे देखा और उस ने चञ्चल को । घोड़ा सवार को तौल रहा था और सवार घोड़े को । दोनों ही सावधान थे, दोनों ही समझदार ।

उस दिन चञ्चल ने जी तोड़ कर गाया और सुन्दर ने जी खोल कर रुपये दिये, पर उस ने दो-चार बार से ज्यादा चञ्चल की तरफ नहीं देखा । नीची आँखें किये वह पान खाने का मैच खेलता रहा । इन नीची आँखों में चालाक चञ्चल ने देखा किसी शर्मीले युवक की भिन्नता न थी, एक सधे हुए सिपाही का बाँकपन

था, जिस में गर्व और उपेक्षा मिले-जुले इठलाया करते हैं ।

गाना खत्म हुआ और भूमता हुआ सुन्दरसिंह चञ्चल के घर से बाहर आ गया । न सलाम, न शुक्रिया ! गरम लोहे की एक लकीर-सी चञ्चल के दिल पर खिंच गई । अपनी ज़िन्दगी में पहली बार आज उस ने अनप्यासी आँखें और अनमाँगते होंठ देखे ।

तीन-चार दिन बाद वह फिर आया और फिर वही बात । ख़ूब गाना, ख़ूब रुपये और बस; चञ्चल से जैसे उसे कोई मतलब न था । चञ्चल का मन उस से कुछ पूछने को बार-बार उमड़ता, पर अभिमान का समुद्र बीच में लहरा गया, वह फुटकार कर रह गई !

उस के कानों में अपने प्रसंशकों द्वारा बार-बार सुने वे मधुर वाक्य गूँज गये, जिन में उस की तुलना स्वर्ग की अप्सराओं से की गई थी । क्या वे सब झूठ थे ? उस का रोम-रोम जैसे चीत्कार कर उठा—हाय, क्या वे सब झूठ थे ?

वह अपने कमरे में दोनों तरफ लगे आईनों के बीच में, सहमी-सी आकर खड़ी हो गई । बिजली के प्रकाश में, दर्पण की आलोक-माला के साथ मिल कर, चञ्चल का रूप चारों ओर बिखर गया । चञ्चल स्वयं उस रूप की भ्रमक में स्तब्ध हो भौंचक रह गई । सचमुच इतना रूप !

नब्बे

गर्व से उस की आँखें चमक उठीं, पर दूसरे ही क्षण सुन्दर की याद ने यह चमक फीकी कर दी, जैसे आग की उभरती लपटों पर बारिश का दौगड़ा आ गिरे ।

उस ने अपने सारे जेवर उतार फेंके और भीतर के कमरे में जाकर वह रोती-सी पलङ्ग पर गिर पड़ी । जिस ने भीतर आकर उस की तबियत पूछी, उसी पर गरम भाड़ पड़ी । उस का दिमाग भूखे भेड़िये-सा बौखलाया हुआ था । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस समय चञ्चल उन घड़ियों में थी, जहाँ निर्बल मनुष्य आत्म-घात करते हैं, सबल शत्रुओं का खून और गरीब के लिये जहाँ खारे आँसुओं का ही सहारा है ।

तीसरी बार भी वही बात । इस बार चञ्चल के गर्व की गाँठ खुल गई और खुद मुँह फोड़ कर उस ने चलते-चलते सुन्दर से पूछा—

“क्या मैं जनाब के बारे में कुछ जान सकती हूँ ?”

“हाँ हाँ, नाम सुन्दरसिंह, काम माल बाबू और शौक सा-रे-गा-मा !”

“अब कब तशरीफ लाइयेगा ?”

“जब पैर धड़ को उठा लाएँ और तबियत में उमङ्ग हो !”

“तब भी तो ?”

“कल ही, दस दिन में या फिर कभी नहीं !”

इक्यानवे

और बिना उस की ओर से उत्तर का इन्तज़ार किये सुन्दर फिर चला गया। चञ्चल को खुशामदी बातें—जिन के हरूफ़-हरूफ़ में उस के रूप की तारीफ़ के लच्छे और क़दम-क़दम पर उस के बिना बेचैनी के क़व्वारे और मर जाने की बेरौब धमकियाँ गुंथी हों—सुनने की आदत थी। सुन्दरसिंह का यह बेरुखा जवाब और रुख़ जैसे उस के कलेजे को बींध गया।

अब रात-दिन उस के दिमाग़ में सुन्दरसिंह के स्वप्न थे। हज़ारों दिलों पर राज करने वाली चञ्चल सुन्दरसिंह के सामने हार गई थी, पर इस हार से उस के भीतर दुख की आँधी का उफ़ान न उठा, सुख-सन्तोष की सरिता ही लहरा उठी थी—जीवन में पहली बार उस ने अपने में नारी के दर्शन किये थे।

३

चञ्चल अब भी शादियों में जाती थी, गाती थी और रुपये कमाती थी, पर उस के घर पर अब सिर्फ़ सुन्दरसिंह का अधिकार था। वहाँ से भौंरों की वह भीड़ अब भगा दी गई थी। सुन्दरसिंह जब तक न आता, वह बेचैन रहती और महीने में जो कुछ कमाती, उसे सुन्दरसिंह के आराम के लिये खर्च कर डालती। वह भी खुश थी और बानवे

सुन्दर भी । सुन्दर भी अब प्रेम की बातें करना सीख गया था और चञ्चल सोचती थी कि उस ने सुन्दर को पूरी तरह जीत लिया है ।

वह अब बसन्त की रानी थी, पर उस दिन उस के बसन्त में अचानक पतझड़ लौट आया । सुन्दर ने हँसते हुए बाहर से आ कर कहा—“लो चञ्चल, पता नहीं अब तुम कब मिलो । मेरा तबादला हो गया है और परसों मुझे जाना है । कमबख्त ! बहुत याद आएगी तू !”

चञ्चल चोट खाये हवाई जहाज—सी, जैसे आसमान से गिर पड़ी—“ऐं ! और मेरा क्या होगा ?”

“तुम्हारा वही होगा जो सब वेश्याओं का होता है । सुन्दर गया, सुन्दर आया, चलाये जाओ अपना बिजनेस !”

चञ्चल का दिल टुकड़े-टुकड़े होगया । एक का घर जल रहा था, दूसरा अपने हाथ सेकने में मशगूल था । उस का जी चाहा, दुनिया के उस पार, कहीं एकान्त बन में वह जा सोये, पर वह नारी थी । अपनी चोट को भूल कर उस ने कहा—“मेरी जान जा रही है और तुम हँस रहे हो ? तुम चले जाओगे और मैं यहाँ जिन्दा रहूँगी ? यही समझा है तुम ने मेरे दिल को इतने दिन में, पत्थर !”

सुन्दर के भीतर तक चञ्चल की वेदना उतर गई । उस ने बहुत सी वेश्याएँ देखी थीं, पर आज उस ने वेश्या को नारी के रूप में देखा । वह खिलाड़ी था, नये

तिरानवे

अखाड़े में उस ने नया पैतरा बदला—

“चञ्चल ! मैं ही तेरे बिना कहाँ रह सकता हूँ । मैं तो तेरा दिल देख रहा था पगली !”

चञ्चल निहाल होगई । नारी का बल है विश्वास और वेश्या विजय पाती है अविश्वास के बल पर । पर चञ्चल अब नाम को थी वेश्या और उस के रोम-रोम में आ बैठी थी नारी, जिस का स्वभाव प्रेम पर मिट जाना है, उस से खेलना नहीं !

सुन्दर ने चञ्चल को समझाया—वह नये शहर में जाते ही एक मकान ठीक करेगा और आकर चञ्चल को ले जाएगा । वह अब उस के बिना नहीं रह सकता, नहीं जी सकता । कुल तीन दिन की तो बात है ।

४

जब अन्तिम दिन सुन्दर चञ्चल के घर से चला तो वह भी बातें करती साथ चली । थोड़ी दूर दोनों चलते, सुन्दर रुकता और चञ्चल को लौटाने की कोशिश करता । अपनी बेचैनी और जल्दी ही ले जाने की प्रतिज्ञा दोहराता, पर फिर चारों पैर एक साथ चल पड़ते ।

यों ही सिविल अस्पताल आ गया । यह शहर की आखरी बिल्डिङ्ग थी । सुन्दर ने हजार कसमें खाई, लाख चौरानवे

वायदे किये, पर फिर भी कानखजूरे की तरह उसे चञ्चल को अपने से तोड़ कर अलग करना पड़ा। जब तक वह दीखा, चंचल उसे देखती रही। जब वह रात के अँधेरे में लीन हो गया तो चञ्चल भरी आँखें और भारी दिल लिये लौट आई।

कुल तीन दिन की बात थी। सुन्दर आएगा और उसे ले जाएगा। चञ्चल ने तीन दिन अपना सामान सँजोने में लगाये। तीन दिन बीत गये, पर सुन्दर न आया, न आया, उसे आना ही न था।

फिर भी उसे आशा थी—उस का विश्वास अभी डिगा न था। हम जो चाहते हैं, जिस के लिये हमारे मन में अधीर चाह है, उस के न पाने की बात, असम्भव होकर भी हमारे निकट सरल-साध्य लगती है। चञ्चल सोचती—सुन्दर आएगा जरूर, वह मेरे बिना रह ही नहीं सकता। कौन जाने उसे छुट्टी न मिली हो, उस की तबियत ही खराब हो। आज नहीं कल, वह आएगा जरूर, पर आशा की भी एक सीमा है। आखिर प्रतीक्षा का स्रोत सूख गया और उसी के साथ चञ्चल के जीवन का सारा स्रोत-रस भी ! उसका दिमाग घूम गया—महीनों वह अपने कमरे में खामोश पड़ी रही। दुनिया अब उस के लिये बे-रस थी। कोई उसे समझाने की कोशिश करता तो वह झुल्ला उठती।

पिचानवे

बरसों बीत गये । चञ्चल अब बुढ़िया हो गई । अपने ऊँचे मकान का किराया खाती है और रोज़ शाम को अपने भुर्रियों भरे चेहरे पर पाऊंडर और रूज लगाये, वह अस्पताल के सामने आकर खड़ी हो जाती है और घण्टों कुछ सोचती रहती है । रोज़ नये कपड़े बदलती है, नये ढङ्ग से बाल काढ़ती है और नया बूट पहनती है ।

लड़के उसे मेम साहब कहते हैं, पर वह चिढ़ती नहीं है । वह मेम साहब नहीं है, पर अपनी आँखों में वही बीस साल पहली चञ्चल है । उस रात का संस्कार उसे यहाँ तक खींच लाता है और वह खोई-सी रह जाती है । बाहर से उसकी चेतना खो गई है, पर भीतर जैसे उस का उर चेतन प्रश्नों से भरा है ।

मेरा सुन्दर कहाँ है ? हाय, मेरा सुन्दर कहाँ है ? वह कब आएगा ? हाय, मेरा सुन्दर कब आएगा ?

इन हाहाकार भरे प्रश्नों के पीछे जैसे आशा का उजेला है । सुन्दर परसों आएगा और मुझे ले जाएगा । वह मेरे बिना नहीं रह सकता । मेरा सुन्दर आ रहा है । कुल तीन ही दिन की बात है !

उस के वे तीन दिन क्या कभी पूरे होंगे ?

गुलाबी चुनरिया

मङ्गला जङ्गमगढ़ के जमींदार चौधरी रामभज की धर्मपत्नी थी। जङ्गमगढ़ न कोई स्टेट है न ताल्लुका, एक साधारण गाँव है और चौधरी रामभज यहीं चार हल की खेती करते हैं। मङ्गला को रामभज की चौधरन कहा जाए या रामभज को मङ्गला का चौधरी, इस में समाज-व्यवस्था की दृष्टि से भले ही विवाद हो सकता हो, गाँव वालों के लिये तो रामभज ही मङ्गला का चौधरी था—रामभज से मङ्गला न थी, मङ्गला से रामभज था।

जवानी की शराब अल्हड़पन की सुराही से जब मस्ती की प्यालियों में उँडेली जाती है तो जिन्दगी की बस्ती भूम उठती है, पर मङ्गला ने इस फिलासफी में एक नई खोज की थी। वह बुढ़ापे की सुराही से जब जवानी

निन्यानवे

की शराब प्यार की प्यालियों में उँडेलती तो न सिर्फ उस की ही जिन्दगी की बस्ती भूम उठती, गाँव के बूढ़े, जवान और बालकों के जीवन की बगिया भी हँसते फूलों से भर-भर जाती । उस के शरीर में बुढ़ापा था, स्वभाव में जवानी, बाहर बुढ़ापा और भीतर जवानी । इस तरह जीवन की गङ्गा के दो किनारों को साथ मिला कर मङ्गला चल रही थी ।

किसी बहू का भाई आता, मङ्गला उस का खाना बना आती । किसी की बहू-बेटी विदा होती, वह काम में हाथ बटाने को तैयार रहती । गाँव के जमाई सुसराल आते ही मङ्गला को पूछते और गाँव के बीमार बेहोशी में भी मङ्गला के नाम की माला फेरते । वह सब के काम भी आती और सब को हँसाती भी । उस की चुटकियाँ इतनी नुकीली होतीं कि जिस पर वह काटती, वह हँसता भी और कसकता भी ।

२

जङ्गमगढ़ के पास ही एक गाँव था नारायणपुर । वहाँ मङ्गला की एक सहेली रहती थी मखमली । आज उस के लड़के का मुण्डन था, स्रबर आई थी, सख्त तकाजा था कि उस में मङ्गला जरूर आए ।

सौ

जब मङ्गला नारायणपुर जाने को उठी तो उस की छोटी बहू ने उस की कुर्ती का छोर पकड़ कर हिलाते हुए कहा—“यों पसगावें जाया जाता है कहीं माँजी, अपनी इज्जत के मुताबिक ही कहीं पैर उठाया जाता है । चार आदमी वहाँ क्या कहेंगे कि घर में तीन-तीन बहुएँ हैं किसी को यह नहीं सूझा कि सास को एक चुनरी उड़ा देतीं ।

बहू उठी और अपनी गुलाबी चुनरी निकाल कर ले आई ।

“लो, यह ओढ़ो !” और उस ने खुद हँस कर वह चुनरी बुढ़िया सास को उड़ा दी ।

“भला यह चुनरी कहीं मेरे अच्छी लगती है बहू ? कोई क्या कहेगा वहाँ कि लो भाई बुढ़िया के पर निकल रहे हैं । यह तो तुम बहुओं के लायक है ।” मङ्गला ने ज़रा सकुचाई-सी आवाज़ में कहा और बहू ने उस के मन की गाँठ खोलते हुए कहा—“तुम कौन सी बहू से कम हो माँजी ! चुनरी ओढ़ कर गौनियाई-सी लगती हो । और फिर बुढ़ापा जवानी मन का है । तुम तो हजार जवानों से अच्छी लगती हो माँजी !”

मङ्गला ने चुनरी ठीक की और बहू ने छोटा-सा शीशा उसे दिखा दिया ।

बुढ़िया गुलाबी चुनरी में लिपटी लहराती और उमङ्गों में भीतर तक गुलाबी हुई बलखाती नारायणपुर के रास्ते चली जा रही थी। दूर से घोड़े पर जाते फतेहपुर के बड़े थानेदार धीरजसिंह ने उसे देखा।

धीरजसिंह अधेड़ उम्र, फौजी शरीर, आँखों में सुख्खी के डोरे, बोल खारा पर मतलब के लिये जिस में मिठाई घोलते देर न लगे। भूटे और सच्चे मामलों में दान-दक्षिणा लेना तो थानेदार का हक है।

और थानेदार की तन-मन-धन से सेवा करना गाँव वालों का धर्म, पर धीरजसिंह इस से एक पाठ और ज्यादा पढ़े हुए थे। उन का स्वभाव जरा रसिक था। गाँव के पुरुष जब उन की इतनी सेवा करें तो स्त्रियाँ ही उस से क्यों वञ्चित रहें ? स्त्रियों के प्रति उन के मन में सहज कृपा थी। जो काम लक्ष्मी और सरस्वती उन से मिल कर न करा सकती थीं वह किसी स्त्री के कुछ क्षणों के परिश्रम से ही सुलभ था।

धीरजसिंह ने दूर से देखा एक गुलाबी चुनरी हवा में हिलती चली जा रही है। मङ्गला की थिरकती चाल और नाटे कद ने धीरजसिंह की आँखों में एक सुन्दर तस्वीर खींच दी। उन्होंने देखा, गोरा रङ्ग, १८-१९ साल की एकसौ दो

उभरती उम्र, चपल चितवन और सरल स्वभाव । दूर होकर भी जैसे वे उस के पास पहुँच गए । पहले वह सकुचाई, भिन्नकी और घबराई, पर धीरजसिंह ने अपनी कला से उस की भिन्नक दूर कर के अपना जाल उस की ओर फेंका—“थानेदार जिस का अपना हो, गाँव में किस की मजाल है कि उस की तरफ़ तिरछी आँखों से देखे । अगली ही सर्दियों में तुम्हारे मालिक को मुखिया बनवा दूँगा और चारों तरफ़ उसकी धूम मच जाएगी । सारे मुक़दमे उस की ही मार्फ़त सुलझा करेंगे । वह भी समझेगा कि कोई बीबी मिली है और तुम्हारे पैर धो-धो कर पीएगा ।”

आतङ्क जहाँ अपना-सा मुँह लिये लौटता है, प्रलोभन वहाँ सफलता की पताका फहरा देता है, यह जीवन का अनुभव है । धीरजसिंह ने देखा, उस का मन्त्र सफल होगया है और स्वर्ग उस की अब गोद में है । सड़क का फेर काट कर उस ने अपना घोड़ा गुलाबी चुनरी की ओर बढ़ा दिया । उस के जीवन में इधर बहुत दिन से पतझड़ हो रही थी । आज उस ने देखा कि अचानक उस में बसन्त की लहरें इठला रही हैं । सड़क पर घोड़ा दौड़ रहा था और घोड़े की पीठ पर धीरजसिंह का दिल, कौन बताये कि ज्यादा गरमी किस में थी ?

मङ्गला ने दूर से देखा, थानेदार राह काट कर उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा है । सारा मामला समझते उसे

क्या देर लगती, उस ने ज़रा-सा घूँघट खींच लिया और उस के भीतर मुस्काती चली । थानेदार ने पास आ कर घोड़े की चाल धीमी की और वह घूँघट जैसे उस के भीतर तक भमक उठा ।

“कहाँ जा रही हो इधर, बहू ?”

धीरजसिंह ने अपनी भूमिका प्रारम्भ की और मङ्गला ने अपना घूँघट ऊपर खींच कर जैसे उस का उपसंहार कर दिया ।

“आय, हाय, तुम इस गुलाबी दुपट्टे को देख कर कितनी दूर से चले आ रहे हो ! आग लगे इस चुनरी में बेटा ! कैसे पसीने में तर हो, ज़रा-सा मुँह निकल आया है ! मैंने पहले ही बहू से कहा था कि मुझ बुढ़िया को कहीं सोहती है यह चुनरिया, पर वह न मानी । आग लगे इस चुनरी में बेटा ! न मैं यह ओढ़ती, न तुम यहाँ तक दौड़ते ।”

“हाय, हाय, कैसा हड़काया कुत्ता-सा दौड़ा आया है बेचारा !”

बुढ़िया अपनी बात दोहराये चली जा रही थी और थानेदार जैसे बेहोश हो रहा था, उस की आँखें ज़मीन से उठती न थीं और गला बन्द था, जैसे इमली का पन्ना खाकर उस के टौंसिल फूल आए हों ।

भैया की डायरी

इस बार बरसों बाद मैं अमृतसर आई तो देखा घर की दुनिया बदल गई है। किले-सी उस कोठी में न सफाई है, न वह पहली-सी व्यवस्था। भैया क्या न रहे, यहाँ का सारा रास-रङ्ग ही उजड़ गया। मन पर एक ठेस पड़ी—समय बड़ा बलवान है। कभी इस कोठी के बाहर की सड़कें महका करती थीं, आज उस के फर्श भी धूल से भरे हैं।

धूल से मुझे चिढ़ है, नौकरी से रोज इस पर भिक्-भिक् रहती है कि यह धूल क्यों रह गई, वह जाला क्यों छोड़ दिया। मुझे खुद भाङ्ग पकड़े देख, कभी-कभी लाला जी कहा करते हैं—तुम पहले भव में भङ्गिन थीं, किसी मुनि की तुमने सेवा की और तुम्हें यह सुन्दर जीवन मिल गया।

एकसौ सात

मैंने नौकरों को पकड़ा, चिल्लाई, लोभ दिया, खुद साथ लगी। तीन दिन में कोठी चमचमा उठी, पर फ्लैण्डर्स का एक मोर्चा लड़ना अभी बाकी था—अलमारियों को जाने कब से हवा न लगी थी और जाने उन में क्या-क्या भरा था ? एक-एक कागज छाँटा और फाइलें ठीक कीं—इन का अब शायद कुछ उपयोग न था, फिर भी उन्हें फेंक न सकी। एक अलमारी में भैया की दस-बारह डायरियाँ थीं। वे जब से जापान गये, डायरी लिखने की उन्हें आदत हो गई थी।

“वह खुद एक गुलाब का फूल है और उसे गुलाब के फूल बेहद प्यारे हैं। जब सुबह मेरे घर आती है तो फूलों का एक गुलदस्ता साथ लिये; उन्हीं की तरह हँसती—बिखरती। वह नहीं जानती कि मैं रात में भी उस के ही स्वप्न देखता हूँ।”

डायरी में मनुष्य के दिल की तस्वीरें उतरी होती हैं। डायरी लिखते समय वह नहीं जानता कि इसे कोई और भी पढ़ेगा। एक पूरे पेज पर ऊपर का वाक्य लिखा था। तब भैया जापान में थे और यह वहीं की किसी लड़की का चित्र है। मैं हँस पड़ी—वाह, इस डायरी में तो बड़ी मजेदार कविताएँ हैं !

ज्यादातर डायरियाँ व्यापार सम्बन्धी याददाशतों, रोज के हिसाब, पते और मित्रों के सिग्नेचर्स से एकसौ आठ

भरी थीं, पर कहीं-कहीं जीवन के भीतरी चित्र भी थे ।
एक पन्ने पर लिखा था—

“रहिये अब ऐसी जगह चल कर जहाँ कोई न हो !
हम सखुन कोई न हो और हम ज़बाँ कोई न हो !!
और अगर पड़ जाइये बीमार तो कोई न हो तीमारदार !
और अगर मर जाइये तो नोहागर कोई न हो !!”

यह उन दिनों की डायरी थी, जब भैया को हार्ट डिजीज के दौरे उठते थे । इस उद्धरण के पीछे उन की मायूसी की कितनी गहरी तस्वीर भाँक रही है ? मेरा दिल भर आया, पर इस के दो महीने बाद एक पेज पर लिखा था—“जीवन के बहुत से मसले हैं और नये-नये सवाल मन में उठते हैं, पर उन में यह सवाल कितना अहम है कि आत्म-घात करने के लिये ज़हर पीकर पड़ जाना ठीक है या क्रूद कर अज्ञान के सामने लेट जाना ?” इस सवाल के पीछे आदमी के दिल की कैसी तस्वीर है ? मैं एक बार काँप गई ।

मैंने एक और डायरी उठाई । नवम्बर के महीने में दस-बारह पन्नों पर एक लेख-सा था । मैं उसे पढ़ने लगी । लेख तो नहीं, वह एक कहानी थी—पता नहीं, उन की कल्पना या जीवन की सच्ची कहानी । सम्भव है यह किसी लेखक की कृति हो और अपनी रुचि के अनुसार पसन्द

एकसौ नौ

आने से उन्होंने इसे किसी पत्र से नक़ल की हो। कुछ भी हो, यह एक सुन्दर चीज़ है और इस में हृदय की वृत्तियों का ऐसा चित्र है कि पढ़ कर मन में गुदगुदी होने लगती है।

मैंने उस की नक़ल कर ली और साफ़ करके भैया की डायरियाँ एक अलमारी में लगा दीं। नक़ल नीचे दे रही हूँ—

जिन्दगी के वे तीन दिन

“तुम कहो तो मैं तीन दिन के लिये रावलपिण्डी हो आऊँ ? पिताजी की तवियत ख़राब है। उन के कई ख़त आ चुके, कल तार आया है।”

हीरा स्वतन्त्र है, फिर भी उस ने इस रूप में मेरे प्रेम-अधिकार की जैसे घोषणा कर दी। मैं निहाल हो गया और अपने उतरे चेहरे को सँभालते हुए मैंने कहा—“मैं तो खुद तुम से कई बार कह चुका हूँ, पर तुम सुनती ही नहीं। अच्छा, कब जा रही हो !”

“जब तुम ख़ुशी से कह दो और पीछे दुखी न होने का वायदा करो !”

मेरा दिल पानी-पानी हो गया। वाह, तुम्हें पीछे दुखी न होने का भी फ़िक्र है !

*

*

*

रात आधी से ज्यादा जा चुकी है, सिनेमा-घरों में अँधेरा छा गया, मेरे दिल में इतना अँधेरा है कि उस में एकसौ दस

नींद भी नहीं आ पाती। कहानियों की एक किताब पढ़ने लगा,
पर मन न लगा, फिर भी पढ़ता रहा। दिमाग थक गया,
पर नींद न आई। उठ कर कोठी के बरामदे में घूमता रहा
और पागलपन की हद हो गई, घूमता-घूमता तुम्हारे घर के
सामने जा पहुँचा। अब दो बजे थे। चाँदनी में तुम्हारा वह
छोटा-सा सुन्दर भवन खान कर रहा था और उसकी गोद
में पड़ी तुम सो रही होगी, तुम्हें क्या मालूम कि बाहर क्या
हो रहा है। तुम्हारे ध्यान में डूबा लौट आया, पड़ रहा,
करवटें, दो भूपकियाँ और तुम ! आँख खुल गई और
तुम कहाँ ?

*

*

*

सुबह स्टेशन गया और रूमाल हिला कर तुम्हें
विदा कर दिया। अब पैर शरीर को घर की तरफ ला
रहे थे और मन तुम्हारे कम्पार्टमेण्ट के साथ दौड़ रहा था।
रावलपिण्डी, स्लेटफार्म नम्बर ४। तुम नीचे उतरीं, जैसे
सारा स्लेटफार्म चमक उठा। चलो बाहर, सामान ताँगे
में रक्खा और अब मेरी मौत आ गई। मुझे क्या पता तुम
कहाँ जाओगी ? हाय, मैं अब क्या करूँ ? मेरा मन भी
अन्धा हो गया, कल्पना का दीपक भी बुझ गया, जैसे कुम्भ
के मेले में नई दुल्हन खोई जाए और वह घबरा उठे।

*

*

*

एकसौ ग्यारह

दिन भर तबियत उड़ी-उड़ी रही । रात की गाड़ी का समय हो आया और मैं स्टेशन जा पहुँचा । शायद तुम आ जाओ ! परिचित गेटकीपर ने पूछा—“आज तो आप सुबह भी आये थे, मैंने अपने कार्टर से देखा था आपको !”

मैं जैसे नींद से जाग गया । वाह, तुम आज ही सुबह गई थीं तो आज ही कैसे लौट आओगी ? मैं शायद पागल हो गया हूँ, पर आज का दिन कितना बड़ा हुआ कि मैं दूसरा दिन समझ रहा था !

मैं चुपचाप लौट चला—“तो गाड़ी नहीं देखते ?” गेटकीपर ने पूछा । मेरा अब कौन आने वाला था !

*

*

*

आधी रात जा चुकी, मैं बैठा तुम्हारी तस्वीर देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ, तुम्हारे आने में अभी लम्बे-लम्बे दो दिन और हैं । आज का दिन तो बीत ही गया, बस थोड़ी देर में अब लेट जाऊँगा और करवटें बदलूँगा । पता नहीं कब कम्बख्त नींद आएगी और तब कहीं तुम्हारा रूप मेरी पलकों के आङ्गन में बिखरेगा, पर फिर चौक कर आँखें खुल जाएँगी और उन में उमड़ेंगी गङ्गा-यमुना ।

दुनिया में आदमी सोकर खोता है और प्रेम के संसार में जाग कर ! क्या कोई ऐसी दवा नहीं हो सकती कि मैं खालूँ और सो जाऊँ और तब उठूँ कि जब तुम आ चुको ।

एकसौ बारह

काश, ऐसी दवा हो ! मैं अपनी जिन्दगी बेच कर भी उसे खरीद लूँ !

*

*

*

बार-बार दिल उमड़ता है और दौड़ जाता है । एक तरफ यह घर और दूसरी तरफ रावलपिण्डी स्टेशन । घर से दिल उड़ता है और रावलपिण्डी के स्टेशन से टकरा जाता है । मेरी बेचैनी की रावी के ये जैसे दो किनारे हों और प्यार एवं मिलन की लहरें इन किनारों पर सिर पटक कर विलाप कर रही हों !

*

*

*

एक स्लिप मिला कि स्यालकोट से मि० गुप्ता आये हैं और इस्त्रीनियर शर्मा के यहाँ ठहरे हैं । वहाँ गया, तीन आदमी एक साथ खाना खा रहे थे, मि० गुप्ता, उन के बहिनोई और मि० शर्मा । सब से पहले मेजबान ने खाने से हाथ रोका और दोनों मेहमान खाते रहे ।

मि० शर्मा ने कहा—“वाह, तुम खा चुके ?” मुझे एक मजाक सूझा, मैंने कहा—“हज़रत, तुम्हें ही खाने को मुफ़्त का माल मिल रहा है, उस ग़रीब को तो अपना घर दिखाई देता है !” बात कुछ इस अन्दाज़ से कही गई कि कमरा हँसी से भर गया । मि० शर्मा ने कहा—“वाह, वाह ! बहुत बढ़िया बात रही ।” मैं पाँच वर्ष पुरानी एक याद में डूब गया ।

एकसौ तेरह

मैं तुम्हारी लाइब्रेरी से एक पुस्तक लेने आया था, देखा, तुम बीमार पड़ी हो। मैं पास बैठ गया। एक मच्छर आया और तुम्हारे कपोल पर काट गया। ज्वर की गर्मी से वह जगह दफड़ा गई। कतई साधारण भाव से मैंने कहा—“आप के यहाँ बहुत मच्छर मालूम होते हैं ?”

गहरी मसखरी में उतर कर तुम ने कहा—“बहुत बड़े-बड़े !”

अब मैं भी जरा आगे बढ़ गया—“और वे काटने की जगह भी खूब चुनते हैं।”

तुम मुस्कराई और अपना हाथ प्यार से मेरे हाथ पर रख दिया। ऐसी मुस्कराहट मैंने जीवन में कभी न देखी थी।

“जब वह मच्छर आया, तुम ने उसे रोका नहीं ?” मैंने सवाल किया और तुरन्त उत्तर मिला—“रोका तो, पर वह रुका नहीं और रोकने से रुकता ही कौन है ?” तुम फिर मुस्करा उठीं और मैं जैसे बेहोश हो गया और बस, उसी दिन हम दोनों ने एक नई दुनिया देखी।

#

#

#

रात में १० बजे स्टेशन गया, गाड़ी देखने, शायद तुम आ जाओ ! गाड़ी आरही है। काश, तुम इस गाड़ी से आ जाओ ! गाड़ी सैटफार्म पर आ गई और एक-एक

एकसौ चौदह

कम्पार्टमेंट मेरे सामने से गुजरने लगा । सेकेण्ड क्लास कम्पार्टमेंट में दूसरी ओर मुँह किये तुम खड़ी थीं—वही चैस्टर, वही गुजराती जूड़ा । मेरे पैरों में जैसे बिजली का कनेक्शन जुड़ गया हो और मैं दौड़ा । गाड़ी ठहरने से पहले मैं कम्पार्टमेंट के सामने था । डिब्बे में तुम इकली थीं, मेरा मन उभरा आ रहा था ।

“तुम आ गई ! बड़ी शैतान हो तुम, मैं नहीं बोलता तुम से !”

तुम मुड़ीं और मैं सन्न ! वह तुम न थीं, तुम्हारे ही से शरीर की कोई और थी । “माफ़ करना बहिन ! मेरी पत्नी भी इसी ट्रेन से आरही हैं । वे शायद दूसरे डिब्बे में हैं ।” मैंने क्षमा माँगी, पर उन का पारा गरमा रहा था । भन्ना कर बोलीं—“हैट लगा कर तो आज-कल के छोकरोँ की आँखें ही चुंधिया जाती हैं ।”

*

*

*

सुबह उठा तो शरीर टूटा हुआ और दिल ऐसा सुन्न कि डाक्टर ने कोकीन का इन्जेक्शन कर दिया हो ! जी में आता था कि कहीं अँधेरे में जा पड़ें और कोई हमारी सूरत न देखे ।

नौकर ने पूछा—“बाबू जी, आप अभी नहायेंगे या देर में ?”

एकसौ पन्द्रह

“अभी नहा कर मुझे कौनसा स्वर्ग में जाना है !”

नौकर चाय ले आया—“क्यों, आज पानी में कहीं आग लग गई है ? अबे, यह नहाने का वक्त है या चाय पीने का ?

वह अपना-सा मुँह लिये मुझे घूरता बाथरूम में चला गया ।

*

*

*

तुम्हें रात की गाड़ी से आना था और अभी चार बजे थे । साइकिल पर चढ़ कर रावी पहुँच गया और किनारे की घास पर लेट कर खूब रोया । दिल कुछ हल्का हुआ और आँखें भ्रम गईं । क्या देखता हूँ, होटल के एक कमरे में एक युवक के साथ बैठी तुम शराब पी रही हो । यह युवक रामलाल है । अच्छा, पिता की बीमारी के बहाने रावलपिण्डी जाने का यह मतलब है ! अब मैं समझा !

मेरे मुँह से एक चीख निकल गई, मैं उठ बैठा । न होटल था, न तुम, न रामलाल । मैं रावी के तट पर इकला था । यह सब स्वप्न था, फिर भी मेरा दिमाग भ्रमा उठा । यह कैसा स्वप्न है ?

मेरे सामने अँधेरा छाने लगा । दिल की धड़कन बेक्राबू हो चली । मैं रो पड़ा, खूब जोर से ! मुझे लगा कि एकसौ सोलह

मेरा हार्टफेल हो रहा है । मैं अब मर जाऊँगा और हाय, उसे पता भी न चलेगा कि मुझे क्या हो गया था ?

इसी समय घास बेच कर लौटती एक चमारी उधर से निकली । मैं अपनी छाती जोरों से दबाए रो रहा था वह ठहर गई । पास को आकर उस ने पूछा—“अरे भाई तुम्हें क्या हो गया है ? हाय, हाय, कैसी हालत हो रही है तेरी ?”

“मुझे दौरा पड़ गया है बहिन ! हो सके तो मुझे एक घूट पानी पिला दो !”

वह झिझकी । मैं समझ गया—“तुम घबराओ मत । चमारी नहीं, तुम मेरी सगी बहिन हो और इस वक्त तुम्हें भगवान ने ही भेजा है ?”

उस ने मुझे पानी पिलाया । थोड़ा-सा मेरे मुँह पर छिड़का और मुझे फिर से लिटा दिया । मेरी तबियत सँभल गई और उठ कर मैंने उसे एक रुपया दिया । वह मेरी तरफ देखने लगी । मैंने उसे कहा—“आज से तुम मेरी बहिन हो । जब कोई मेरे लायक काम हो तो याद करना ।” और मैंने उसे अपना पता बता दिया । बड़ी मुश्किल से उस ने रुपया लिया ।

“तुम्हारा नाम क्या है बहिन ?” उठते-उठते मैंने पूछा ।

एकसौ सतरह

“हीरा !” जवाब मिला । वह चली गई और मैं सोच में पड़ गया ।

“वाह, हीरा के कारण ही मैं मौत के मुँह में जा रहा था और हीरा ने ही मुझे बचा लिया ।”

मुझे याद हो आया, उस दिन मैंने तुम से कहा था किसी दिन यों ही मर जाऊँगा मैं ! और मुस्करा कर, पूरी दृढ़ता के साथ तुम ने कह दिया था—“मर जाओगे तो मैं तुम्हें ज़िन्दा कर लूँगी !”

हीरा ! आज तुम ने अपना वह वायदा हीरा चमारी के रूप में आकर पूरा कर दिया ! मेरी……………!

पर ऐं ! हीरा तो मेरी बहिन है और वह तुम्हारा ही तो दूसरा रूप है । तब तुम मेरी कौन हो ? भीतर एक द्वन्द्व मच गया—एक तरफ़ थी रूप की रानी, विलास की वारुणी हीरा और दूसरी तरफ़ पवित्रता की मूर्ति और सरलता का स्रोत हीरा चमारी । मैं जाने कब तक दोनों के बीच लुढ़कता रहा और अन्त में हीरा बहिन जीत गई । उस ने कहा—“हीरा, तुम ने इसे मौत के मुँह में ढकेल दिया और मैं इसे वहाँ से खींच लाई । मारने वाले से जिलाने वाला बड़ा है—गौतम बुद्ध का किस्सा सुना है ? तो अब यह बहिन का हो कर ही रहेगा । तुम इसे पाना चाहो तो बहिन होकर ही पा सकती हो !”

एकसौ अठारह

मैंने देखा, रूप की अभिमानिनी हीरा हार गई और उस के मुँह से निकल गया—भाई ! मेरे भैया ! मैं बढ़ कर उस के पास हो गया और मेरे रोम-रोम से आनन्द फूट निकला ।

तीन दिन का थकान जैसे पलक मारते उतर गया और भीतर का कोना-कोना सन्तोष और तृप्ति से भर गया । अब मैं स्टेशन जा रहा हूँ । इस गाड़ी से हीरा अवश्य आएगी—जाने कितनी दूर से उस की प्यासी आँखें अपने प्रेमी को खोजने लगेंगी, पर लेटफार्म पर उसे कौन मिलेगा ?

नींव की ईंट

मुसलमानी ज़माने से सहारनपुर ज़िले में एक गाँव था—बहेड़ा और आज वह 'सन्दलसिंह का बहेड़ा' के नाम से प्रसिद्ध है। यह सन्दलसिंह कौन था ?

सन्दलसिंह एक साधारण किसान था और न जाने कब और कैसे यह बहेड़ा उस के नाम से, सारे ज़िले में 'सन्दलसिंह का बहेड़ा' बन गया था। गाँव का नामकरण अक्सर ज़मींदार के नाम पर होता है, इस लिये आम अनजान आदमी सन्दलसिंह को ही गाँव का ज़मींदार—मालिक समझते थे और यह बात गाँव के बड़े ज़मींदारों के दिल में काँटे की तरह चुभती थी।

मुखिया और नम्बरदार कहते—“मियाँ के पास ढाई बीघे तो ज़मीन नहीं है और बन वैठे हैं गाँव के मालिक। हूँ ! सूरत तो देखो कम्बख्त की, जैसे कोई जुलाहा हो !”

एकसौ तेईस

गाँव के किसान भी सन्दलसिंह की इस सम्मान-वृद्धि से खुश न थे । वे कहते—“सन्दल के पास दो हल हैं । उन से अच्छी हालत के किसान यहाँ गाँव में पड़े हैं फिर उस के नाम में ही ऐसा क्या सुरखाब का पर लगा है कि उस का नाम गाँव के साथ चिपका दिया जाए ?”

सन्दलसिंह ने कभी किसी से यह प्रार्थना न की थी कि उस का नाम गाँव के नाम के साथ चिपका दिया जाए ! और फिर नाम कोई ऐसी चिपकौआ चीज़ नहीं है कि कोई कहे भी तो कहते ही चिपक चले ।

कुछ कम बोले लोग भीतर-ही-भीतर मन-मसोस कर कहते—“कम्बरूत है किस्मत का धनी । रियाया होकर भी राजा बन बैठा है ।”

गरज़ यह कि गाँव का हरेक आदमी सन्दलसिंह को कनअँखियों से देखता और उस से कुढ़ता था, पर सन्दलसिंह यह सब कुछ जान कर भी जैसे कुछ न जानता था । वह जिस से मिलता, हँस कर, जिस से बोलता प्यार से और दोस्त हो या दुश्मन, सब के चार काम कर के चलता ।

२

गुलाबी सर्दियाँ शुरू हो गई थी और किसान बोरा कर के निबट चुके थे । रात में उस दिन मुखिया की एकसौ चौबीस

चौपाल जमी थी, गाँव के सभी खास-खास आदमी जमा थे और हुक्के का मैच चल रहा था । इधर-उधर की गप-शप चलते-चलाते सन्दलसिंह पर बात आ टिकी ।

मुखिया ने अपने दिल की कुढ़न को होंठों की इठलाती हँसी में छिपाते हुए कहा—“हमारा सन्दल है भागवान ! जहाँ चाहो इस का नाम सुन लो । हम नाम भर को मुखिया हैं, पर हमें कोई जानता भी नहीं ।”

नम्बरदार ने खाँसते-खाँसते कहा—“भाई, अपने में से किसी की आबरू बड़े, तो अपनी ही है । गरीबी-अमीरी तो किस्मत की है, पर नाम फैलाना भी किसी-किसी को ही आता है ।”

पहले नम्बरदार की बात में जोड़ लगाते हुए दूसरे नम्बरदार ने कहा—“इस में क्या शक है ? बहुत से धनी आदमी नाम बढ़ाने की जुगत में ही कौड़ी-कौड़ी को मुहताज होगए !”

मुखिया ने पूरी बात पर पालिश करते हुए कहा—“कहते तो हैं सभी, पर जानता है सिर्फ सन्दल ही कि कैसे हीङ्ग लगे न फिटकरी और रङ्ग गाढ़ा आवे !”

भींगा चौधरी दूर बैठा चुपचाप सब की बातें सुन रहा था । वह खुश था कि सन्दल कसा जा रहा है, पर उस के दिल में मचमचाहट थी कि जूते मखमल में लिपटे क्यों पड़ रहे हैं ?

सन्दलसिंह गरीब किसान होकर भी, इज्जत के मैदान पर यहाँ तक क़ब्ज़ा करले कि गाँव का नाम ही उसके नाम पर चले, इस अपराध की सज़ा क्या इतनी सादी होनी चाहिये ?

सन्दलसिंह भी सब सुन रहा था। प्रशंसा का आँचल ओढ़े, थिरकती निन्दा की कुलटा उसे दिखाई दे रही थी, पर उस का सहन ऐसा विन्ध्याचल था जो अपवादों की आँधी से फुरेरी लेता है, काँपता नहीं !

यों ही चर्चा में रात के दस बजने को आये।

३

“नाई ! जा मुखिया जी के घर जा। कहना कि ५-६ महमान आये हैं। खाना बना दे। देख, मुक़दमे में जो सच बोलता है उसका नाश हो जाता है और पञ्चों में जो झूठ बोलता है उस का भी नाश हो जाता है। मुखियानी जो जवाब दे वह ज्यों का त्यों यहाँ कह देना। जा !”

नाई सोचता चला गया। सब सन्दल की ओर देखने लगे—आख़ीर यह क्या तमाशा है ?

सन्दलसिंह ने कहा—“आप रोज़ जानना चाहते हैं कि इस गरीब की चारों तरफ़ चर्चा क्यों है ? यह नाई आज इस बात का जवाब देगा।”

एकसौ छब्बीस

बूढ़े चौधरियों की भेद भरी आँखें, एक साथ सन्दल पर आ जमीं, पर उस की आँखों में न कोई इशारा था, न व्यङ्ग, न चञ्चलता । उनके उर में—कुतूहल का समुद्र लहरा रहा था, पर सन्दल की गम्भीरता का तट इतना विशाल था कि उस की लहरें उसे छूकर बस लौट आती थीं ।

नाई लौट आया ।

मुखियानी ने कहा है कि—“आये होंगे मेहमान ! तमाम दिन की मरती-भरती ने अब ज़रा खाट से कमर छुई है और अब फिर चूल्हे में जलूँ ? मुखिया से कहना खुद आकर थप ले टिक्कड़ ! मुझे मुखियागिरी के लिये लोगों की रज़ामन्दी नहीं लेनी है !”

नाई नम्बरदार के घर चला गया ।

“नम्बरदारिन ने कहा है कि आधी रात गई अब तो गीदड़ भी सो गये ! पर नम्बरदार के मेहमान अभी घूम ही रहे हैं ! कह देना, आठ-दस रोटियाँ तो रक्खी हैं, पर साग नहीं है । मट्टे से खावें तो खिला दें !”

दूसरे नम्बरदार के घर से भी नाई लौट आया ।

“घर में सूत न कपास, जुलाहे से लट्टम लट्टा ! आटा घर में नहीं है और मेहमान बुला लिये बीस ! दूध रक्खा है थोड़ा-सा । एक-एक गिलास पिला कर कह देना, चादर उढ़ा दें अपने मेहमानों को !”

एकसौ सत्ताईस

“नाई ! अब हमारे घर चला जा भाई ! कहना आठ-दस मेहमान आ गए हैं, पर रात बहुत हो गई है, इस लिये चौधरी ने उन्हें खाने को नहीं टोका । पूछा है कि घर में थोड़ा दूध तो नहीं रक्खा है ?”

नाई सन्दलसिंह के घर से लौट आया । उस के एक हाथ में थे दो उपले और दूसरे में तम्बाकू की पुड़िया ।

“चौधरिन ने कहा है कि उन्हें खाने को जरूर पूछें । जिस के घर मेहमान बिना खाये सोते हैं, भगवान उस से कभी खुश नहीं रहते । थोड़ी देर में सब को ले आवें, मैं ज़रा सी देर में खाना बना देती हूँ ।”

यह उपले दिये हैं और यह तम्बाकू और मुफ़ से कहा है कि जा तब तक चिलम भर दे !

सारा रहस्य अब तुरूप के खुले पत्ते की तरह सब के सामने था । सभी शरमाये-से सन्दल की तरफ़ देखने की कोशिश कर रहे थे, पर सन्दल अब भी वैसा ही गम्भीर था—सोई चञ्चल लहरों की नदी—सा शान्त उस का मुख—मण्डल, विजयी देश के लहराते झण्डे की तरह गौरव से दमक रहा था ।

४

सन्दलसिंह की पत्नी, हिन्दुस्तानी आतिथ्य-सत्कार और सेवा की मूर्ति । बहेड़े के आस-पास का निवासी, जो एकसौ अट्टाईस

भूले-भटके भी उधर से निकला, उसे उस देवी के प्रेम की प्रसादी मिली, पर उस का राज्य था घर में । वह थी आत्मा, तत्त्व, ज्ञानियों के अनुभव की चीज और सन्दलसिंह था शरीर, दूर से दीखने वाला ।

सन्दलसिंह और बहेड़ा लोगों की स्मृति में घुल कर एक हो गए और यों ही धीरे-धीरे बहेड़ा 'सन्दलसिंह का बहेड़ा' हो गया ।

आज न सन्दलसिंह है, न उस की पत्नी, पर पत्नी के सेवा-भाव ने उसे अमर कर दिया है और आज भी डाकखाने की मुहरों में उस का नाम न जाने कितनी बार छपता है ।

और सन्दलसिंह की पत्नी, हमारे समाज की 'बोलती महफिल में एक खामोश महफिल' जिसे कोई नहीं जानता कि वह कौन थी, पर अनजाने भी जिस की नींव पर ही सन्दलसिंह की अमरता का यह महल खड़ा है ।

ग़रीब का ईमान

“सूअर का बच्चा ! रोज़ हराम की खाना चाहता है ।
कभी नमक कम, कभी नमक ज्यादा । दूर हट बदमाश
कहीं का !”

आशाराम हमारा पुराना रसोइया था और हम सब
बहुओं के लिये उस की स्थिति परिवार के बुजुर्ग जैसी थी ।
इधर जब से बड़े लाला जी टाइफाइड से उठे थे, उन
का स्वभाव बेहद चिड़चिड़ा हो गया था और गरीब की
जोरू सब की भावज, उन के क्रोध का निशाना बनना
पड़ता था—बेचारे आशाराम को ।

आशाराम के भी कुछ इधर हाथ-पैर फूल गए थे ।
कभी नमक कम तो कभी नमक ज्यादा । रोज़ कुछ-न-कुछ
गड़बड़, रोज़ दस-बीस गालियाँ !

उस दिन आशाराम ने मुझ से कहा—“बहूजी ! मुझे तो जैसे नज़र लग गई है, आज शाक तुम छौंक दो ?”

मुझे खुद उस पर दया आ रही थी । मैंने टमाटर का शाक छौंक दिया और अपने कमरे में चली गई, पर आशाराम के ग्रह वाकई खराब थे । उस ने सोचा, मैंने सिर्फ़ छौंक लगाया है, अभी नमक डालना शेष है । बस, उस ने भी नमक डाल दिया और पूरियाँ उतारने लगा ।

बड़े उत्साह से आज उस ने थाल लगाया । आज उसे बहुत दिन बाद लाला जी को प्रसन्न देखने का विश्वास था । खुशी-खुशी उस ने टेबिल पर थाल रक्खा, लाला जी ने एक टुकड़ा शाक के साथ मुँह में दिया और पैर के एक भटके के साथ थाल दूर फेंक दिया । गालियों की बौछार से सारा कमरा गूँझ उठा—

“सूअर का बच्चा ! रोज़ हराम की खाना चाहता है । कभी नमक कम, कभी नमक ज्यादा, दूर हट बदमाश कहीं का !”

आशाराम सन्न ! उस के जिस्म में काटो तो खून नहीं । हे भगवान, आज भी वही बात । आज तो शाक बड़ी बहू ने छौंका था । क्या वह भी कुछ भूल गई ?

आशाराम खून के अपराधी-सा चुपचाप अपनी कोठरी में चला आया । रसोई की ओर उस ने देखा तक नहीं । थोड़ी देर बाद, एक मैला-सा पर्चा, पेंसिल एकसौ चौतीस

से लिखा, लाला जी की मेज पर आ गया। यह आशाराम की विदाई का सूचना-पत्र था।

२

चार-पाँच रोज़ आशाराम कोठी पर नहीं आया, पर इस के बाद वह कभी-कभी आने लगा। वह आता, घर के चार काम कर जाता। लालाजी के पास बैठता, उन से चार बातें करता और चला जाता।

वह बेकार था, उसे दस नौकरियाँ मिल रही थीं। मैंने भी उस से बेकार न रहने को कहा, पर नौकरी के लिये उस का मन तैयार न था। नौकरी की बात सुन कर, कई बार मुझे ऐसा लगा कि उस के भीतर जैसे दुःख की आँधी उठ जाती है और अपनी असफलता उस के आगे आ खड़ी होती है। लाला जी चाहते थे कि आशाराम फिर से अपनी जगह काम करे, पर वह इस के लिये भी तैयार न था।

एक दिन जोर से खाँस कर आशाराम शाम के समय मेरे कमरे में आकर खड़ा हो गया।

“क्या है मिसर जी ?”

“बहू जी ! मैं आप का ही अन्न खा कर इतना बड़ा हुआ हूँ और अब भी आप की ही मदद से कुछ काम करना चाहता हूँ।”

एकसौ पैंतीस

वह ढाबा करना चाहता था और उसे ३०० की जरूरत थी। मैंने ३०० उसे दे दिये। वह खुश-खुश आशीर्वाद दे कर चला गया।

उस का ढाबा चल निकला और ६ महीने बाद ही वह ३०० ले कर मेरे पास आया। वह बहुत खुश था। बातों-बातों में मैंने कहा—“मिस्सर जी ! अब तो तुम अपनी शादी कर लो, यों इकले कब तक रहोगे ? चालीस साल से कम ही होगी तुम्हारी उम्र ?”

आशाराम का चेहरा खिल गया, पर सकुचाते-से उस ने कहा—“कह तो सब रहे हैं। एक रिश्ता उठ भी रहा है, पर सोचता हूँ अब क्या शादी करूँगा बुढ़ापे में बहू जी ! थोड़ी-सी रही है, यह भी यों ही कट जाएगी।”

“यों ही क्यों कट जाएगी। शादी करलो और आराम से रहो। लोग तो ६० साल की उम्र में शादी रचाते हैं, तुम तो ३० के ही लगते हो !”

“बहूजी, शादीमें खर्चका भी तो सवाल है ! बड़ी मुश्किल से ये ३०० जोड़े थे। अब एक फूटी कौड़ी भी पास नहीं है !”

उस के ३०० उस के आगे रख कर मैंने कहा—“तो मेरे रुपयों की तुम्हें इतनी फिक्र क्यों है ? पहले तुम अपना घर खोलो, मेरे रुपयों की बाद में देखी जाएगी। तुम्हें और कुछ चाहिए तो मुझ से ले जाना।”

आशाराम की शादी हो गई।

एकसौ छत्तीस

“बहू जी ! यह सन्दूकची अपने पास रख लो ।”

“क्या है इस में मिस्सर जी ?”

“मेरा जेवर है । मेरा मन कह रहा है कि मेरी जिन्दगी के दिन पूरे हो गये । पता नहीं, कब मिट्टी का डला-सा भुर जाऊँ ?

मैं आप का कर्जदार हूँ, पर कोई लिखा पढ़ी नहीं है । घर वालों का क्या ? ज़रा-सी देर में वे बेईमान हो जायें । बहू जी, मुझे ईश्वर के यहाँ भी जगह न मिलेगी !”

और डिब्बा उस ने मेरे पैरों के पास रख दिया ।

मैंने उसे समझाया—“अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है । मरने का यह वहम तुम्हें कहाँ से लिपट गया ? अभी शादी की है, अपने घर में आनन्द से रहो । ऐसे वहम में नहीं पड़ा करते । जाओ, अपना डिब्बा ले जाओ और बहू को जेवर पहनने दो । वह तुम्हारी बातें सुनेगी तो क्या सोचेगी अपने मन में !”

पर वह न माना और डिब्बा मेरे पास छोड़ गया ।

“बहू जी ! तुम ने कभी मेरी बात नहीं टाली । दया कर के यह डिब्बा अपने पास रख लो । मेरे साँस को कुछ हो गया और घर वाले मुकर गये तो मुझे ईश्वर के यहाँ भी जगह न मिलेगी ।”

पता नहीं उसे क्या इलहाम हुआ था । आशाराम पन्द्रह दिन बाद ही हैजे में चल बसा । चार दिन उस की चर्चा रही और बात आगे-पीछे जा पड़ी । उस का डिब्बा ज्यों का त्यों मेरी अलमारी में पड़ा रहा । मुझे उस की याद भी न रही ।

हम कभी मरना नहीं चाहते और मर कर भी चाहते हैं, हमारी याद युग-युग तक दुनिया के दिलों में ताजी बनी रहे, पर दूसरों की मृत्यु हमारी दृष्टि में इतनी साधारण घटना है कि हम उसे अपनी याद के खाते में इतनी हल्की रोशनाई से लिखते हैं कि सन्ध्या के बाद प्रभात की नव किरणों का अरुण आलोक फूटते-न-फूटते वह सूख कर कहीं उड़ जाती है ।

जीवन की यह कैसी विचित्र विडम्बना है ?



उस दिन मेरे रेशमी कपड़े सूख रहे थे । उन के साथ ही रतनू आशाराम का वह डिब्बा भी उठा लाया ।

“यह क्या है ?” लाला जी ने उसे देख कर पूछा और आशाराम की उस दिन की वह घटना मेरी आँखों में घूम गई । संक्षेप से वह सब मैंने लाला जी को सुना दी ।

उन्होंने वह डिब्बा खोला । उस में लगभग ५०० का जेवर था । स्नेह का रस उन की आँखों में, बादलों के एकसौ अड़तीस

उर का स्पन्दन—सा उमड़ कर वह चला । वे उठ कर अपने कमरे में गये और लौट कर उन्होंने वह डिब्बा मुझे लौटा दिया । मैंने देखा, उस में ५०० के नोट और रख दिये थे ।

बोले—“आशाराम गरीब की ईमानदारी का एक सुन्दर नमूना था । तुम उस की स्मृति में कोई ऐसा स्मारक बनवा दो जो उस की याद भी बनी रहे और दुनिया को सबक भी मिले ।

बहुत सोच कर आशाराम की याद में मैंने एक हाल बनवा दिया है जिस में शहर भर के वे नौकर और मजदूर आराम करते हैं जिन के लिये स्थान का प्रबन्ध नहीं है ।

एक पत्थर पर आशाराम का संस्मरण खुदा हुआ है, जिसे वे लोग पढ़ते हैं और ईमानदारी की प्रेरणा पाते हैं ।

मैं जब कभी उस हाल के सामने से गुजरती हूँ तो आशाराम का वह चित्र मेरी आँखों में घूम जाता है—“मैं आप का कर्जदार हूँ, पर कोई लिखा पढ़ी नहीं है । घर वालों का क्या ? ज़रा-सी देर में वे बेईमान हो जाएँ ! बहू जी, मुझे ईश्वर के यहाँ भी जगह न मिलेगी !”

शिक्षा मानवता के विकास का चरम साधन है और मोह-ममता के अन्धकार में डूबी आत्मा का प्रकाश स्तम्भ, पर शिक्षा के नाम पर उस ने कुछ अक्षर ही पढ़े थे और

एकसौ उनतालीस

संसार की परिभाषा के अनुसार उसे धर्मात्मा कहना भी एक उपहास होगा । फिर भी आशाराम एक ऐसा मनुष्य था कि उस पर कोटि-कोटि महाग्रन्थों का अध्ययन करने वाले हजारों शिक्षित और आरती एवं घण्टे की ध्वनि में भूम-भूम जाने वाले लाखों धर्मात्माओं का जीवन न्योछावर हो जाए ।

“बहू जी, मुझे ईश्वर के यहाँ भी जगह न मिलेगी !”
यह उस के सरल हृदय का कितना सुन्दर चित्र है ?

धवल छत्र की छाया में

इङ्गलैण्ड की स्त्रियाँ चाहे नाज़ियों के बम्बार्डमेण्ट से बच जायें और टपाटप ओलों की वृष्टि में खड़े पके खेतों के बचाव का भी चाहे कोई वैज्ञानिक प्रबन्ध कर दे, पर हिन्दुस्तान की स्त्रियाँ पुरुषों की घूर से नहीं बच सकती ! कम-से-कम अभी बहुत दिनों तक ।

इस घूर का उपयोग क्या है ? एक खराब आदत और बस कुछ नहीं, पर इतनी विशाल और संस्कृति-सम्पन्न जाति में एक व्यापक खराब आदत ! खराब जानने पर भी न छूटने वाली खराब आदत ! हाय रे राम !

हरेक आदत का एक मनोविज्ञान है और एक इतिहास और सच यह है कि उस मनोविज्ञान में ही वह इतिहास छिपा है तो इस घूर का मनोविज्ञान क्या है ?

एकसौ तैंतालीस

नारी स्वभावतः सुन्दर है, जब कि व्यवहारतः वह अनेक स्थलों में कुरूप भी है, पर पुरुष की भावुकता भरी कल्पना में नारी और सौन्दर्य का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। जो नारी है, उसे सुन्दर होना ही चाहिए।

इस कल्पना और व्यवहार में एक समन्वय है, नारी पुरुष के रात-दिन के सङ्घर्ष से परिपूर्ण जीवन में मधुर सरसता का बहता स्रोत है और इस रूप में वह नित्य-सुन्दर है, पर दृष्टा पुरुष उस के इस आध्यात्मिक रूप से बहक कर, दत्तात्रेय की मर्मवेधी भाषा में, एक चर्मकार—चर्म-विशेषज्ञ—के रूप से, जहाँ उस की केवल शारीरिक रूप में परख करता है, वहाँ यह समन्वय अस्थिर हो उठता है।

तो नारी सुन्दर है और जो सुन्दर है, वह दर्शनीय भी है। सुन्दर के दर्शन की भावना में न कहीं पाप है, न अव्यवस्था। पुरुष के भीतर भी इस भावना का भण्डार है, पर हमारे इतिहास के किसी विगत खण्ड में दर्शन की इस पवित्र भावना पर व्यवस्था की पाबन्दियाँ जड़ दी गई हैं। यह घूर इन पाबन्दियों के विरुद्ध एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है और क्रिया का सुधार ही प्रतिक्रिया के समन्वय की सर्वोत्तम विधि है।

मैंने चार अक्षर पढ़े हैं और सोसायटी में बैठी हूँ, इस लिये मैं यह सब समझती हूँ, तो जब लाला बलदेवदास एकसौ चौबालीस

ने मेरी ओर बार-बार देखा तो मेरे लिये यह कोई खास बात न थी ।

लाला बलदेवदास कानपुर के पुराने रईस थे । कभी तो बेचारों के बाहर घोड़ागाड़ी खड़ी रहती थी और बैलों की जोड़ियाँ भूमा करती थीं, पर जमींदारी की आमदनी से जो धन उन की तिजोरी में आ कर बैठ गया तो उन्हें बिड़ला के ख्वाब आने लगे ।

एक चलता-सा आदमी उन्हें मिल गया । बम्बई में एक दूकान खुल गई और बस दो ही साल में सब चौपट ! अब लाला जी एक दूकान करते थे और कुछ खेती । इज्जत के साथ रोटियाँ मिल रही थीं और १९३० के काँग्रेस आन्दोलन में जेल जाकर उन्होंने फिर से शहर में एक बात पैदा करली थी । अब सभी सभा-सोसायटियों में वे कुछ-न-कुछ थे ।

रामलीला कमेटी के वे चेयरमैन थे और वहाँ किसी मनचले मेम्बर ने यह प्रस्ताव पेश कर दिया था कि यहाँ सीताजी का प्रतिनिधित्व करने के लिये किसी नारी को भी स्थान दिया जाए । मेरे पति रामलीला कमेटी के सब से बड़े 'डोनर' थे, इस लिये मैं ही सीता की सब से बड़ी प्रतिनिधि मानी गई ।

जिस दिन पहली बार मैं रामलीला कमेटी की मीटिंग में गई तो राम के सारे प्रतिनिधियों की आँखों में एक चमक-सी आ गई ।

एकसौ पैंतालीस

बलदेवदास जी की उम्र साठ वर्ष के करीब थी । चेहरे पर झुर्रियाँ, दाँत बने हुए और सिर पर सफेद बालों की छोटी-छोटी लच्छियाँ ! झुक कर, हाथ जोड़ कर और दाँत निकाल कर बोले—“हैं, हैं, आपने बड़ी कृपा की जो हमारी प्रार्थना मंजूर करमाई । आप वहाँ क्यों बैठ रही हैं ? यहाँ पधारिये !”

मैं उन के पास बैठ गई । वे सारी प्रोसीडिङ्ग में राय सिर्फ़ मुझ से ही पूछते रहे और देखते भी मुझे ही रहे, जैसे मीटिङ्ग में और कोई मामलात को समझता ही न था । सदस्यों को भी कई बार उन्होंने उपदेश दिया कि वे देवीजी की बात ध्यान से सुनें और उनके अनुभव से लाभ उठावें ।

जब मीटिङ्ग समाप्त हुई तो बड़े तपाक से उन्होंने मुझे धन्यवाद दिया—“हमारी सभा का काम इधर कुछ दिनों से ढीलेपन की दलदल में फँस रहा था । अब हमें विश्वास हो गया है कि देवी जी के तेज से उस में एक चमक आ जाएगी ।”

मुझे खुद कार तक छोड़ने आये । मेरे रोकने पर भी कार का दरवाजा खोला और अत्यन्त सम्मान पूर्वक मुझे बिठा कर खुद दरवाजा बन्द किया और मुझे मुझे से मोटर पर हाथ रख कर बोले—“बस, अब मैं सभा के काम से बेफ़िक्र हो गया । ये लोग रोज़ नये-नये झगड़े खड़े करते हैं और मैं परेशान होता हूँ । मैं भी क्या करूँ, एकसौ छयालीस

मुझे सभा के काम से ऐसा मोह हो गया है कि छुड़ाये नहीं छूटता । अब जो भी मसला आएगा, मैं आप से पूछ लिया करूँगा ।”

अपनी योग्यता के सम्बन्ध में मुझे इतना बड़ा प्रमाण-पत्र पहले कभी न मिला था ।

२

दूसरे दिन कोठी की घण्टी बजी और चपरासी ने अन्दर आकर कहा—“कोई लाला बलदेवदास जी खड़े हैं !”

वही हँसी, वही नम्रता और एक रजिस्टर बराल में ।

“हैं, हैं, देवी जी, कलक्टर साहब कहते हैं कि रामलीला का जलूस इस बार आठ बजे ही समाप्त हो जाए । मैं उन से मिलने जा रहा हूँ । सोचा आप की राय लेता चलूँ । बस आप के आने से तो मैं सभा के काम से क़तई बेफ़िक्र हो गया ।”

मैं इस मामले को क़तई न समझती थी, फिर भी ‘हाँ-हूँ’ करती रही, पर इस ‘हूँ-हाँ’ को ही लाला जी ने चलते समय कहा कि—“आप के गम्भीर परामर्श से मेरी सारी गुत्थियाँ सुलझ गई ।”

मेरा मन आज उन के प्रति प्यार-सी कोमलता से भर गया । लाला जी बहुत सीधे आदमी हैं । बेचारों को किसी का सहयोग नहीं मिलता । सभा के काम के लिये

इकले मरते फिरते हैं। मुझे खेद हुआ कि मैं इस लायक नहीं हूँ कि उन के काम में ज्यादा हाथ बटा सकूँ। फिर भी मेरे मन में आया कि इस बार की मीटिङ्ग में मेम्बरों को एक मीठी फटकार पिलाऊँगी और इन के त्याग की प्रशंसा करूँगी।

अब बलदेवदास जी तीसरे-चौथे दिन आते और किसी-न-किसी मसले पर बातें करते। जितनी देर बैठते, मुझे देखते रहते और किसी-न-किसी बात पर मेरी तारीफ़ करते रहते। यों ही कुछ दिन और बीत गये।

अब वे जब आते तो कुछ हड़बड़ाये-से। इतना और कि अब वे अपने बालों में खिजाब लगाने लगे थे और अङ्गे की जगह बन्द कोट ने लेली थी। बालों में खुशबूदार तेल लगाते थे, आँखों में सुरमा। इन सब से वह पूरे भँडेले-से लगते थे, पर शायद उन के दर्पण की सम्मति किसी से मिलती न थी। मेरी दृष्टि में यह भी उन की सरलता का ही रूप था।

उस दिन वे आये तो बोले—“हैं, हैं, आप को देखे दो-चार दिन हो जाते हैं तो दिल में एक हुड़क-सी उठने लगती है।”

उस समय मुझे अनुभव हुआ कि उन की पिण्डली और आवाज दोनों में कँपकँपी थी और वे पानी-पानी हुए जा रहे थे।

एकसौ अढ़तालीस

उस दिन वे बहुत से कागज ले कर आये और घण्टा भर बातें करते रहे, जिन में कोई तरतीब न थी। उन के कागजों में तह किया, एक छोटा-सा पर्चा रक्खा था, जिसे वे बार-बार इधर-उधर कर रहे थे। वे शायद मुझसे कुछ कहना चाहते थे, पर कह न रहे थे। घबराये-से, जैसे दिल की धड़कन का दौरा उन्हें हो रहा हो !

“लाला जी, आप की तबियत कैसी है ? शर्बत बनवाऊँ आप के लिये ?”

“नहीं, नहीं, आप क्यों तकलीफ़ करती हैं ! मैं तो बस अब यही चाहता हूँ कि अपने को पूरी तरह आप को सौंप दूँ। हें, हें, शर्बत की क्या जरूरत है। मैं तो हमेशा आप का ही शर्बत पीता रहता हूँ !”

मैंने गौर से उनकी तरफ़ देखा कि भीतर तक उन्हें भाँक पाऊँ, पर उसी समय वे उठ गये। उन के जाने पर मैंने देखा, वह पर्चा वहीं पड़ा रह गया है। योंही उठा कर मैं पढ़ने लगी।

“रानी ! मैं बूढ़ा हूँ पर मेरे भीतर जवानी का दिल है। तुम मेरे बुढ़ापे को देख कर मेरा अदब करती हो, पर मैं चाहता हूँ कि मेरा दिल देखकर एक बार मुझे प्यार करलो।

मैं देखता हूँ, रोज़ तुम अपने जवान देवरो के साथ चुहल करती हो, पर मेरा अनुभव है कि जवान के दिल

एकसौ उननचास

में हजार उम्मीदें, हजार रङ्ग होते हैं। उस का प्यार दुनिया में हजार जगह बटा रहता है, पर मेरा प्यार तो केवल तुम्हारे ही चरणों में न्योछावर है।

जवान आदमी को रिझाने के लिये, रिझा कर बस में रखने के लिये, हजार तरकीबें करनी पड़ती हैं, पर मेरे लिये तो तुम्हारी एक चितवन ही काफी है। उसी में मैं सारी उम्र बँधा रहूँगा रानी !”

पर्चा मैंने दो-तीन बार पढ़ा और मैं जोर से हँस पड़ी, पर तुरन्त ही मेरा मन गम्भीर हो गया।

“हूँ ! बुढ़ा इतना रसिक है ?”

शाम को मेरा त्याग-पत्र और वह पर्चा लाला बलदेवदास के पास पहुँच गया।

मन प्रश्नों की खान है। मेरे मन में भी आज चारों ओर प्रश्न उभर रहे हैं। आकाश की दीपमाला की तरह कुछ चमचमाते, कुछ टिमटिमाते और कुछ बुझते-से।

मन की दुनिया भी निराली है। पिछले महीनों में बीती घटनाएँ, स्मृतियों का बाना पहने आती-जाती रहती हैं। कभी मन क्रोध से भर जाता है, कभी हँसी से और कभी उपेक्षा से ऊब उठता है। प्रतिहिंसा भी अपनी भाँकी दे जाती है—क्यों न मैंने वह पर्चा रामलीला कमेटी की मीटिङ्ग में पढ़ दिया ? पर अन्त में फिर हँसी आ जाती है और सब कुछ उसी में धुल और घुल जाता है।

एकसौ पचास

तीन साल पहले की बात

यह कोई कहानी नहीं है, एक घटना है। वैसे तो हर कहानी एक घटना है और हर घटना एक कहानी है, पर यह वाकई एक घटना है।

इसे समझने के लिये यह जरूरी है कि हम लुधियाने के लाला भोलाराम के आँगन का स्वरूप समझ लें। पहाड़ मुहानी, पुराने ढङ्ग की इकमंजिला हवेली, जिस में सामने की तरफ एक बैठक, बीच में दहलीज और बराबरी में बहलखाना, भीतर तीनों तरफ कमरे और छत पर दो बरसातियाँ। यह कुल मकान है।

बैठक के ठीक सामने थी रसोई। बैठक में आये-गये मेहमानों को रसोई में काम करती स्त्रियाँ दिखाई देती थीं, इस लिये लाला भोलाराम ने बैठक के दरवाजे के ठीक सामने चौक में एक ओटा बनवा दिया था।

एकसौ तिरेपन

ओटा, एक देहाती टेकनिक, जिस का अर्थ है ओट के लिये बनी एक छोटी-सी दीवार। ओटे के बीच में एक छोटा-सा ताक, जिस के एक कोने में, जाने कब का श्री गणेश-वाहन का बिल।

“मुन्नू ! ले दौड़ कर दो पैसे की दही ले आना। बाबू कामताप्रसाद भी खाना खायेंगे। जल्दी आना !”

तीन दिन भकाभक बारिश पड़ने के बाद आज दिन खुला था। चिड़ियों अपने घोंसलों से लम्बे विश्राम के बाद, बाहर आकर चहचहा रही थीं। सूर्यदेवता अपनी तीन दिन की गैरहाजिरी के लिये शर्मीले से चारों ओर भाँक रहे थे।

लाला भोलाराम को कचहरी जाने की जल्दी थी। मुन्नू को देने के लिये उन्होंने ओटे के ताक में से दो पैसे उठाये !

कच्च ! दो नशतर से उन की अँगुली में बिंध गये, खून टपकने लगा। चूहे का दाँत किस नशतर से कम है ? एडियें उठा कर लाला भोलाराम ने देखा, ताक में कोई न था !

“भाग गया शैतान ! पर भाग कर जाएगा कहाँ ?”

गुस्से से लाला भोलाराम का दिमाग भल्ला गया। पास ही एक लोहे की मूठ-सी पड़ी थी। उसे उन्होंने उस छेद में ठोक दिया और बोले—“लो बच्चू ! अब हमेशा के लिये यहाँ विश्राम करो। ओटे के चारों ओर सीमेण्ट लिपा है। दो-चार दिन भीतर फुदको और फिर हमेशा के लिये सो जाना !”

एकसौ चौवन

लाला भोलाराम ने अँगुली पर गीले कपड़े की पट्टी लपेटी, भोजन किया और कचहरी चले गये । शाम को कचहरी से लौट कर उन्होंने फिर उस मूठ को देखा और एक बार हाथ से नीचे को दबा दिया । अब वे निश्चिन्त थे कि उन्होंने अपने दुश्मन से पूरा बदला ले लिया है ।

दूसरे दिन शाम को जब वे कचहरी से लौटे तो बहुत देर तक ताक के पास खड़े कान लगाये भीतर की आवाज सुनने का प्रयत्न करते रहे, पर जब कुछ हलचल सुनाई न दी तो अभिमान से अकड़ कर बोले—“सो गये बच्चराम, या कुछ फुदक बाकी है ?”

उन की इस कठोरता से श्रीमती जी की दयालुता में उफ़ान आ गया । बोलीं—“क्यों उस बेचारे के पीछे पड़े हो ? निकाल दो यह मूठ !”

जरा और भी अकड़ कर वे बोले—“और मेरी खून की इन बूंदों की कीमत कौन अदा करेगा, तुम ?” और वे जोर से हँस पड़े ।

२

इस के तीन वर्ष बाद !

कचहरी की आमदनी से लाला भोलाराम की हवेली अब दुमंजिला हो गई थी और रसोई का कमरा अब

एकसौ पचपन

दूसरी मंजिल पर चला गया था । अपनी आराम कुर्सी पर बैठे लाला साहब मिस्त्री को कुछ हिदायतें दे रहे थे ।

श्रीमती जी ने पास आकर कहा—“यह ओटा भी गिरवा दो । अब क्या जरूरत है इस की ?”

“भूलन ! गिरा दे इसे । बेकार भूत-सा खड़ा है कम्बरुत !” भूलन अपनी बसूली लिये आ डटा और एक-एक ईंट उतारने लगा ।

“ओह-हो ! बेचारा घुट कर मर गया !”

भूलन की निरन्तर चलती बसूली बन्द हो गई और वह भौंचक-सा गिरते ओटे को देखता रह गया ।

लाला भोलाराम ने यह सुना और तीन साल पहले की एक याद उन के दिमाग से आकर टकरा गई । अपनी आँखों के आगे फैले अस्त्रबार को समेट कर उन्होंने कहा—“क्या है भूलन ! वह चूहा होगा बदमाश ?”

“नहीं, साँप है लाला जी ! किसी ने बेचारे के बिल में लोहे की मूठ ठोक दी और कहीं निकलने को जगह न थी, बेचारा घुट कर मर गया !”

“अबे, साँप या चूहा ?”

भर्राई-सी आवाज में लाला भोलाराम ने पूछा । जैसे छूटने की उम्मीद में बैठा निर्दोष क़ैदी फाँसी की सज़ा सुन ले और उसे अपने कानों पर विश्वास न हो ।

एकसौ छप्पन

“हाँ लाला जी ! साँप था । किसी कम्बख़त ने बेचारे के बिल में लोहे की मूठ ठोक दी और बेचारा घुट कर मर गया ।”

सकपकाये-से लाला भोलाराम अपनी कुर्सी पर से उठे और उन्होंने गौर से ओटे पर एक नज़र डाली । डेढ़ गज़ लम्बे साँप की एक-एक हड्डी ज्यों की त्यों जमी रक्खी थी ।

“ओह ! इस साँप ने काटा था तब और मैं समझता रहा चूहा !”

तीन साल पहले की वह बात, एक ताज़ी घटना की तरह उन की आँखों में घूम गई । कैसे उन की अँगुली में दो नशतर से चुभे, कैसे उन के दिमाग में एक चूहा आया और कैसे खुशी-खुशी उन्होंने उस से यह बदला लिया, पर ओह, वह तो साँप था !

उन्होंने गौर से अपनी उस अँगुली की तरफ़ देखा । उन्हें लगा कि अभी हाल उन्हें साँप ने काट लिया है और उस का ज़हर उन के तमाम शरीर में फैल रहा है ।

ज़ोर से उन्होंने अपनी अँगुली झटकी और बायें हाथ से अपनी धोती ऊपर को उठाये, वे उछल पड़े । एक बार फिर घूर कर उन्होंने उस सर्प-पिञ्जर की ओर देखा और एक बार अपनी उस अँगुली की ओर !

उन के पैरों के नीचे की ज़मीन जैसे धूम चली और वे धम्म से अपनी कुर्सी पर आ गिरे। उन की आँखें खुली थीं, हाथ फैले थे और साँस बन्द।

भूलन अभी कहे जा रहा था—“लाला जी ! किसी कम्बरत ने कील ठोक दी। कहीं मुड़ने की जगह न थी, बस बेचारा घुट कर मर गया !”

जंगू की बात

“बुला कर ला, उस नालायक को !”

मेरा भङ्गी जंगू अक्सर अपनी बहू को पीटता है ।
 घूँसा, थप्पड़, लात, लाठी, सुना है, सब का वह आचार्य है ।
 वह गरीब भङ्गी है, मेरा आधीन है, इस लिये मुझे हक
 है कि उसे इस के लिये डाटूँ, चाहूँ तो सजा भी दूँ, नहीं तो
 बड़े-बड़े समाज-सुधारक विद्वान और देशोद्धारक इस
 आचार्यता में जंगू के प्रतिद्वन्दी हैं ।

एक रुई भरी बोरी-सी नारी और एक धुनिया-सा
 पुरुष । नारी—गति-हीन, प्रतिपाद-हीन, प्रतिशोध-हीन !
 पुरुष—साकार आक्रमण, साकार स्फुरण और नारी की
 नस-नाड़ियों के सम्पूर्ण ज्ञान का अवतार ! एक बाहर
 से भीतर तक मूक और दूसरा भीतर से बाहर तक

एकसौ इकसठ

गतिमय ! हमारे समाज का यह साधारण दृश्य है । इसे देख कर किसी का दिल नहीं फटता, किसी की आँखें नहीं पसीजतीं ।

गान्धी जी कहते हैं—‘अहिंसा शत्रु का भी हृदय परिवर्तन करेगी ।’ भारत की नारी जैसे इस परीक्षण में असफल हो गई । धुनाई के बाद रुई के भी रेशे घण्टों फुदकते-से रहते हैं, पर भारत की नारी अपनी धुनाई के कुछ क्षणों बाद, नस-नस में कराहती पीड़ा को भीतर तक भूली हँसती है और उसी पुरुष के भोजन, विश्राम और मनोरञ्जन की चिन्ता करती है । उस का जीवन जैसे अहिंसा के विरुद्ध हिंसा की विजय-घोषणा है !

उस दिन जब फिर बहू के पीटने की बात सुधा ने मुझ से कही तो सब कुछ जान कर भी मैं भुंभुला उठी—“बुला कर ला, उस नालायक को !” वह आ कर खड़ा हो गया ।

“क्यों रे, तू रोज उसे मारता क्यों है ? तू आदमी है या भेड़िया ? उठा अपना सामान और मेरा कार्टर खाली कर, पाजी कहीं का !”

“बहू जी, वह बड़ी सुअर है । रोज मेरे बाप को तङ्ग करती है । दुखी हो कर मेरा हाथ उठता है !”

मेरी आधी कोठी के किरायेदार मि० अरोड़ा सामने लॉन में बैठे खत लिख रहे थे । आप उदार हैं, दानी हैं, एकसौ बासठ

एक कैंक्टरी के मैनेजर हैं, सुधारक हैं और साल में कहीं-न-कहीं सभापति होते ही रहते हैं। चिल्ला कर बोले—
 “बदमाश, तेरे बाप को वह दुखी करती है तो उसे प्यार से समझा। वह कोई गाय-भैंस है कि जब चाहा, धमक दी ! यह हिन्दुस्तान है, और कोई मुल्क होता तो तुझे जेल भिजवा देती और तब तुझे आटे-दाल के भाव का पता चलता !”

२

मि० अरोड़ा का दिमाग आज सुबह से ही गरम था। खाना खाने बैठे तो हाथ के एक ही भटके में थाल दूर फेंक दिया और चिल्ला कर बोले—“जब मैं बैंगन नहीं खाता तो ये क्यों बनाये गये हैं ?”

“मुझे तो खुद उन का शौक नहीं है। बच्चे ज़िद कर रहे थे, इस लिये बना लिये।”

“तो बच्चे अच्छे हैं या मैं ?”

“बच्चे भी अच्छे हैं और आप भी। थाल में चार चीज़ें थीं, जो आप को रुचती वह खा लेते !”

अरोड़ा साहब का टैम्परेचर १०६ होगया और चुप्प ! मिसेज़ अरोड़ा के गाल पर पूरे हाथ का एक धप पड़ा और पाँचों अँगुलियाँ उपड़ आई !

एकसौ तिरेसठ

उजड़ जंगू गैलरी भाड़ रहा था और मैं बरामदे में बैठी नन्हें का टोपा बुन रही थी । मि० अरोड़ा को सुना कर मुझ से बोला—“बहू जी, औरत कोई गाय-भैंस नहीं है कि जब चाहा, धमक दिया । यह हिन्दुस्तान है, और कोई मुल्क होता तो बाबू को जेल भिजवा देतीं और तब मियाँ को आटे-दाल का भाव मालूम होता !”

जंगू के ओंठों में दबी हँसी उभर रही थी और मि० अरोड़ा सिर कटे-से उस की ओर देख रहे थे ।

वयोवृद्ध पत्रकार की दृष्टि में—

“इस कहानी-संग्रह का नाम ‘नींव की ईंट’ रखने से लेखिका का शील ही व्यक्त होता है, वास्तव में तो इस का नाम ‘राज-भ्रासाद का कँगूरा’ होना चाहिए; क्योंकि चन्द्रवती जी की कहानियाँ किसी भी अच्छे कहानी-लेखक से किसी भी बात में कम नहीं हैं और इस में सन्देह नहीं कि इन से हिन्दी के कथा-साहित्य का गौरव बढ़ेगा ।.....”

—देवीदत्त शुक्ल, सरस्वती-सम्पादक

यशस्वी कवि और समालोचक की दृष्टि में—

“श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैन की कहानियाँ पढ़ कर मैं बहुत प्रभावित हुआ । मनोविज्ञान की कदली-पत्र की भाँति एक दूसरे में लिपटी और समाई हुई बातें जितनी सरलता के साथ उन्होंने अपनी कहानियों में स्पष्ट की हैं, उतनी आधुनिक कहानियों में कम देखने को मिलती हैं ।

आप इस क्षेत्र में एक नवीन शैली ले कर आई हैं और आप का अनुवीक्षण और कल्पना-सौन्दर्य दोनों ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित हैं ।”

—प्रो० रामकुमार वर्मा

राय बहादुर डॉ. रामकिशोर
पूर्व वायस चांसलर, दिल्ली यूनिवर्सिटी

“मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि श्रीमती चन्द्रवती की कहानियाँ बहुत दिलचस्प हैं और उन की शैली जीवन-पूर्ण है। ‘नींव की ईंट’ का अधिकार है कि वह हिन्दी की कहानी-पुस्तकों में प्रतिष्ठित स्थान ग्रहण करे।

मुझे इस में सन्देह नहीं कि पाठक बार बार उन की कहानियाँ पढ़ेंगे और उस में उन्हें हमेशा नया रस मिलेगा, जैसा कि स्वयं मुझे मिला।”

श्रीऋषभचरण जैन

सम्पादक—‘चित्रपट’, ‘सचित्र दरबार’ दिल्ली

“सभी कहानियाँ कलापूर्ण हैं और पढ़ कर मुझे प्रसन्नता हुई कि हिन्दी की कहानी का मानदण्ड इतना ऊँचा उठ गया है।

‘अञ्जनहारी’ बहुत दिन जीने वाली रचना है।”